जैन तत्त्व विद्या

(खण्ड : २-३)

गणाधिपति तुलसी

संपादिका

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं- **341306**
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं : **(01581) 226080, 224671**
ई-मेल : **Books@jvbharati.ord**

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं
नवीन संस्करण :
मूल्य : पचास रुपये
मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली- 110032

JAIN TATAV VIDYA (Khand 2 & 3) - by Ganadhipati Tulsi ₹ 50/-

(खण्ड : २)

१. अजीव के दो प्रकार हैं –

१. अरूपी २. रूपी

अरूपी अजीव के चार प्रकार हैं –

१. धर्मास्तिकाय ३. आकाशास्तिकाय

२. अधर्मास्तिकाय ४, काल

रूपी अजीव का एक प्रकार है –

१. पुद्गलास्तिकाय

'कालू तत्त्वशतक' के प्रथम वर्ग के पच्चीस बोलों में विविध दृष्टियों से जीव तत्त्व का विवेचन किया गया है। जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व है अजीव। जीव और अजीव – ये दो ही तत्त्व हैं इस संसार में। इसलिए जीव का विश्लेषण करने के बाद दूसरे वर्ग में अनुक्रम से अजीव के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है।

अजीव वह तत्त्व है, जिसमें चैतन्य गुण का सर्वथा अभाव है। वह जड़ पदार्थ है। उसके दो भेद हैं – अरूपी और रूपी। दूसरे शब्दों में अमूर्त और मूर्त। अरूपी और अमूर्त ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

अरूपी पदार्थ का कोई आकार नहीं होता। उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी नहीं होता। न वह आंखों से देखा जा सकता है, न सूंघा जा सकता है, न चखा जा सकता है और न छूकर ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इन्द्रिय ग्राह्य न होने पर भी उसका अस्तित्व है। अतीन्द्रियज्ञानी उसे जानते है और दूसरों को बोध देने के लिए उसका निरूपण करते है। उस निरूपण के आधार पर अरूपी अजीव तत्त्व बुद्धिगम्य हो जाता है।

रूपी का अर्थ है रूपवान्। शाब्दिक परिप्रेक्ष्य में यह शब्द केवल रूप आकार या वर्ण का वाचक है। किन्तु इसका वाच्यार्थ है–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का समन्वित रूप। क्योंकि एक वर्ण के ग्रहण से गंध, रस, स्पर्श आदि स्वत: गृहीत हो जाते हैं।

जिस पदार्थ में रूप है, उसमें अच्छा या बुरा गन्ध होगा ही। जिस पदार्थ में गन्ध है, उसमें खट्टा-मीठा या कोई और रस होगा ही। इसी प्रकार जिस पदार्थ में रस है, उसमें शीत, उष्ण, स्निग्ध या रूक्ष कोई-न-कोई स्पर्श होगा ही। किसी पदार्थ में वर्ण, गंध, रस या स्पर्श में से किसी का अस्तित्व हो और किसी का न हो, यह नहीं हो सकता। क्योंकि इनका परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कभी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए रूपी या मूर्त पदार्थ में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की उपस्थिति अनिवार्य है।

अरूपी अजीव तत्त्व के चार प्रकार बताए गए हैं–

धर्मास्तिकाय	आकाशास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय	काल

'गतिसहायो धर्मः'–गतिशील जीव और पुद्गलों की गति में उदासीन भाव से सहयोगी बनने वाला तत्त्व धर्म है। अस्ति का अर्थ है त्रैकालिक पदार्थ और काय का अर्थ है प्रदेश-समूह। गति में सहायता करने वाला प्रदेश-समूह धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार **'स्थितिसहायोऽधर्म'**:–स्थिति में सहायता करने वाला प्रदेश-समूह अधर्मास्तिकाय है। **'अवगाहलक्षणं आकाशः'**–सब पदार्थों को आश्रय देने वाला प्रदेश-समूह आकाशास्तिकाय है। जो तत्त्व पदार्थों के परिवर्तन का हेतु है, वह काल है। ये चारों ही तत्त्व अमूर्त है। इनका कोई आकार नहीं है।

रूपी अजीव तत्त्व एक ही प्रकार का है। वह है पुद्गल। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इसके अपरिहार्य धर्म हैं। पुद्गल के अतिरिक्त ये धर्म कहीं भी नहीं मिलते। जहां पुद्गल है, वहां वर्ण, गन्ध आदि की सत्ता निश्चित है। पुद्गल शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द होने पर भी अपने आप में बहुत अर्थवान् है। आश्चर्य होता है कि कोषकारों ने इस शब्द को कैसे छोड़ दिया। मेरे अभिमत से मूर्त पदार्थ को अभिव्यक्ति देने वाला ऐसा कोई दूसरा शब्द नहीं है। इंग्लिश में पदार्थ के लिए मैटर शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु वह अधूरा प्रतीत होता है। पुद्गल शब्द पूरा है। शब्द किसी का अपना नहीं होता। इसलिए इसे जैन पारिभाषिक शब्द मानकर उलझने की जरूरत नहीं है।

आग्रह और संकीर्णता से मुक्त होकर मूर्त पदार्थ के लिए पुद्‌गल शब्द का प्रयोग होने से यह काफी व्यापक और प्रभावशाली प्रमाणित हो सकता है।

२. पुद्‌गल के पांच संस्थान हैं–

१. वृत्त (मोदक का आकार)	४, चतुष्कोण
२. परिमंडल (चूड़ी का आकार)	५, आयत
३. त्रिकोण	

दूसरे बोल में पुद्‌गल के पांच संस्थान बतलाए गए हैं। संस्थान का अर्थ है आकार। जीव का कोई आकार नहीं होता, इसलिए उसमें कोई संस्थान भी नहीं होता। अजीव के पांच भेद है–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्‌गलास्तिकाय। इन पांचों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल-ये चार अमूर्त है। इनमें रूप नहीं होता। रूप के बिना आकार भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में एक पुद्‌गल तत्त्व ही ऐसा बचता है, जो रूपवान् और आकारवान् है।

सामान्यत: संस्थान दो प्रकार का होता है–इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। अनित्थंस्थ का अर्थ है अनियत आकार। कोई नियत आकार न होने के कारण इसके भेदों का निर्धारण नहीं हो सकता। उपर्युक्त पांच नियत आकारों के अतिरिक्त अन्य सभी संस्थान इसी में अन्तर्गर्भित है।

इत्थंस्थ का अर्थ है निश्चित आकार। उक्त पाचों भेद इसी संस्थान के हैं। इनमें वृत्त और परिमंडल संस्थान गोलाकार पदार्थ के वाचक हैं। इन दोनों संस्थानों वाले पदार्थ गोल होने पर भी भिन्न-भिन्न आकृतियों के बोधक हैं। वृत्त आकार समझाने के लिए मोदक या गेंद का उदाहरण दिया जाता है। ये सघन और समतल होते हैं। परिमंडल संस्थान का उदाहरण है–चूड़ी। चूड़ी गोलाकार होने पर भी मोदक की भांति सघन और समतल नहीं है। त्रिकोण संस्थान को सिंघाड़े के आकार से उपमित किया जा सकता है। चतुष्कोण संस्थान में वे सब वस्तुएं आ जाती है, जो चौकोर होती हैं। वैसे पंचकोण, षट्‌कोण आदि आकृतियां भी होती है, पर पांच संस्थानों में इनकी गणना न होने से इनका समावेश अनित्थंस्थ संस्थान में हो जाता है।

पांचवें संस्थान का नाम है–आयत। यह वस्तु की लंबाई की सूचना देने वाला है। जैनशास्त्रों में इसके स्थान पर एक नाम आता है–पृथुल। इसका अर्थ होता है

विस्तीर्ण। वैसे आयत शब्द लम्बा और विस्तृत – इन दोनों अर्थों का बोधक है। इस दृष्टि से आयत और पृथुल एक ही अर्थ के वाचक दो शब्द हैं।

ये पांचों संस्थान पुद्‌गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं होते। इसलिए ये पुद्‌गल के गुण तो नहीं, किन्तु उसके लक्षण रूप में स्वीकृत हो सकते है।

३. जीव के प्रयोग मे आने वाले पुद्‌गल स्कन्धों की आठ वर्गणाएं हैं –

१. औदारिक वर्गणा	५. कार्मण वर्गणा
२. वैक्रिय वर्गणा	६. मनो वर्गणा
३. आहारक वर्गणा	७. वचन वर्गणा
४, तैजस वर्गणा	८. श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा

पुद्‌गल के दो रूप हैं – परमाणु और स्कन्ध। द्रव्य की दृष्टि से पुद्‌गल अनन्त हैं। क्षेत्र का सीमांकन किया जाए तो वह सम्पूर्ण लोक में हैं। काल की अपेक्षा वह आदि-अन्त रहित है। भाव की दृष्टि से वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त होने के कारण रूपी है। उसका गुण है ग्रहण। ग्रहण अर्थात् मिलन और बिखराव। 'परमाणु' पुद्‌गल की सबसे छोटी इकाई है और अचित्त महास्कन्ध उसका सबसे बड़ा रूप है। पुद्‌गल हमारे लिए बहुत उपयोगी चीज है, पर बहुत से पुद्‌गल ऐसे भी हैं जिन्हें हम काम में नहीं ले सकते। परमाणु ही नहीं, ऐसे अनन्त-अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी है, जिनका हमारे लिए सीधा कोई उपयोग नहीं है जो पुद्‌गल-स्कन्ध हमारे काम में आते हैं, उन्हें वर्गणा कहा जाता है। वर्गणा का अर्थ है – सजातीय पुद्‌गलों का समूह। वे वर्गणाएं आठ हैं –

औदारिक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्‌गल-समूह का नाम औदारिक-वर्गणा है।

वैक्रिय शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्‌गल-समूह का नाम वैक्रिय-वर्गणा है।

आहारक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्‌गल-समूह का नाम आहारक-वर्गणा है।

तैजस शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम तैजस-वर्गणा है।

कार्मण शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम कार्मण-वर्गणा है।

मन रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम मनो-वर्गणा है।

वचन रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम वचन-वर्गणा है।

श्वासोच्छ्वास रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम श्वासोच्छ्वास-वर्गणा है।

इन आठों वर्गणाओं में सबसे स्थूल वर्गणा औदारिक है और सबसे सूक्ष्म वर्गणा कार्मण है।

सूक्ष्म वर्गणा में संख्या की दृष्टि से परमाणु स्थूल वर्गणा से अधिक होते हैं। सब वर्गणाएं अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध है। इनमें मन, वचन और कार्मण वर्गणा के अतिरिक्त शेष सब वर्गणाएं अष्टस्पर्शी है। ये वर्गणाएं पूरे लोक में व्याप्त हैं। किन्तु इनका प्रयोग तभी हो सकता है, जब ये जीव द्वारा गृहीत हो जाएं। संसार का कोई भी प्राणी इन वर्गणाओं में से अपने-अपने योग्य वर्गणाओं के योग बिना अपना काम नहीं कर सकता। वह हर क्षण नई वर्गणा का स्वीकार, परिणमन और विसर्जन करता रहता है।

४. पुद्गल के चार लक्षण हैं—

१. स्पर्श　　३. गन्ध

२. रस　　४. वर्ण

लक्षण का अर्थ है—पहचान। '**लक्ष्यन्ते परिचीयन्ते पुद्गलाः यैस्तानि लक्षणानि**'। पुद्गल की पहचान के जो हेतु हैं, वे ही उसके लक्षण हैं। पुद्गल का शाब्दिक अर्थ है—'**पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः**'। जिसमें पूरण-एकीभाव और गलन-पृथग्भाव होता है, वह पुद्गल है। वह 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की परिभाषा है। इसी ग्रन्थ में पुद्गल के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है—'**स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः**'। जो द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त होता है, वह पुद्गल है। इस व्याख्या का फलित यह है कि जो देखा जा सके, सूंघा जा सके, चखा जा सके और जिसका स्पर्श किया जा सके, वह पुद्गल है। यहां इन्द्रियों द्वारा

गृहीत होने वाले पदार्थ को पुद्‌गल माना गया है। पर उक्त परिभाषा में एक इन्द्रिय छूट गई है। जो सुना जाता है, वह पुद्‌गल है; इस व्याप्ति को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। इस दृष्टि से '**स्पर्शरसगन्धवर्णवान्**' के स्थान पर '**स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दवान् पुद्‌गलः**' ऐसा उल्लेख होना चाहिए था। पर यह उल्लेख निर्विवाद नहीं रहता, इसलिए यहां शब्द को छोड़ दिया गया है।

पुद्‌गल की परिभाषा में शब्द को क्यों छोड़ा गया? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर यह है, शब्द पुद्‌गल का ऐकान्तिक लक्षण नहीं है। शब्द के बिना भी पुद्‌गल रह सकता है। अर्थात् शब्द पुद्‌गल ही है, पर पुद्‌गल शब्दात्मक ही हो, यह आवश्यक नहीं है। शब्द केवल वचन वर्गणा के पुद्‌गलों का धर्म है। जबकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के बिना पुद्‌गल का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिए उसके लक्षणों में इन चारों का विशेष रूप से ग्रहण हुआ है।

संसार में दो ही प्रकार के पदार्थ होते हैं—मूर्त और अमूर्त। अमूर्त पदार्थों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं होते; इसलिए वे पौद्‌गलिक नहीं होते। मूर्त पदार्थों में चारों तत्त्व पाए जाते हैं, इसलिए वे पौद्‌गलिक हैं।

स्पर्श आठ हैं, रस पांच हैं, गन्ध दो हैं और वर्ण पांच हैं। प्रत्येक पुद्‌गल में ये सभी तत्त्व हो, जरूरी नहीं है। सबसे छोटा पुद्‌गल होता है—परमाणु पुद्‌गल। उसमें एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं। '**एकरसगन्धवर्णों द्विस्पर्शः**'। अनन्तानन्तप्रदेशी स्थूल स्कन्ध में आठ स्पर्श, पांच रस, दो गन्ध और पांच वर्ण पाए जाते हैं।

५. इन्द्रियों के तेईस विषय है –

श्रोत्र इन्द्रिय के तीन विषय हैं –

१. जीव शब्द ३. मिश्र शब्द

२. अजीव शब्द

चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय है –

१. कृष्ण ४. पीत

२. नील ५. श्वेत

३. रक्त

घ्राण इन्द्रिय के दो विषय है –

१. सुगन्ध २. दुर्गन्ध

रसन इन्द्रिय के पांच विषय है –

१. तिक्त ४. अम्ल

२. कटु ५, मधुर

३. कषाय

स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषय हैं –

१. शीत ५. कर्कश

२. उष्ण ६. मृदु

३. स्निग्ध ७. गुरु

४, रूक्ष ८. लघु

इन्द्रियां ज्ञान करने का साधन हैं। इसलिए ये ग्राहक हैं। इनके ग्राह्य तत्त्व विषय कहलाते हैं। इन्द्रियां पांच हैं और इनके विषय भी पांच है – शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। एक-एक विषय का विस्तार किया जाए तो इनकी संख्या तेईस हो जाती है।

पांच इन्द्रियों में सबसे पहली इन्द्रिय है – श्रोत्र। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। शब्द क्या है? उसके कितने प्रकार हैं? उसका उपयोग क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं, जो शब्द के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से जानकारी कराने वाले हैं। पहला प्रश्न है – शब्द क्या है? जो बोला जाता है, वह शब्द है। यह शब्द की सापेक्ष परिभाषा है। जो ध्वनित होता है, वह शब्द है। यह भी एक सापेक्ष परिभाषा है। निरपेक्ष प्रतिपादन से किसी भी तत्त्व का सही बोध नहीं हो सकता। इसलिए तत्त्वबोध की दिशा में सापेक्षता के मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

शब्द के तीन प्रकार हैं – जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। व्याकरण ग्रन्थों में जीव-शब्द के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख करते हुए कहा गया है –

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च।।

हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, होंठ और तालु – ये आठ स्थान है, जहां से शब्द की उत्पत्ति होती है। इन आठों स्थानों का सीधा सम्बन्ध जीव से है, इसलिए इनसे होने वाला शब्द जीव शब्द कहलाता है।

पुद्‌गलों के संघर्षण से जो ध्वनि होती है, वह अजीव शब्द है। वीणा, झालर, ताल, कांस्य आदि के शब्द अजीव शब्द है। खटखट करना, चुटकी बजाना, पांव पटकना आदि क्रियाओं से जो शब्द होता है, वह भी अजीव शब्द है।

उपर्युक्त आठ स्थान और वाद्यों का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है।

अब प्रश्न यह है कि शब्द का उपयोग क्या है? शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। निरर्थक शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता, कोई उपयोग नहीं होता। पर सार्थक शब्द् फिर चाहे वे शब्दात्मक हो या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत् की भावना को अभिव्यक्ति देते हैं। समूहचेतना में एक-दूसरे को समझने के लिए शब्द ही एक सशक्त माध्यम बनता है। जब तक अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध न हो जाए, विकसित चेतना वाले प्राणी अपने भावों को शब्दों के रथ पर आरूढ़ करके ही समूचे व्यवहार का संचालन करते हैं।

दूसरी इन्द्रिय है – चक्षु। चक्षु इन्द्रिय का विषय है – वर्ण।

वर्ण का अर्थ है रंग। उसके पांच प्रकार है – कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत। इन रंगों के संयोग से अनेक नये रंग उत्पन्न हो सकते हैं। उन संयोगजन्य रंगों की संख्या का कोई निर्धारण नहीं है। संसार में जितने दृश्य पदार्थ है, जिनको हम देख रहे है, उन सब में ये पांचों वर्ण विद्यमान रहते हैं। फिर भी जिस पदार्थ में जिस रंग की प्रमुखता होती है, वह वैसा ही दिखाई देता है और उसके आधार पर हम उसे काला, नीला, लाल, पीला या सफेद कह देते हैं।

'परमाणु' पुद्‌गल की सबसे छोटी इकाई है। वह दृश्य है, पर हम उसे इन चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते। उस परमाणु में भी कम से कम एक वर्ण आदि की उपस्थिति निश्चित रूप से रहती है। क्योंकि उनके अभाव में उसकी पौद्‌गलिकता प्रमाणित नहीं हो सकती।

तीसरी इन्द्रिय है – घ्राण। घ्राण इन्द्रिय का विषय है – गन्ध।

गन्ध के दो प्रकार हैं – सुगन्ध और दुर्गन्ध। मनोज्ञ परिमल को सुगन्ध कहा

जाता है और अमनोज्ञ परिमल को दुर्गन्ध। कौन-सी गन्ध मनोज्ञ होती है और कौन-सी अमनोज्ञ? इसके लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं है। क्योंकि एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ हो सकती है और किसी के लिए अमनोज्ञ। चर्मकार चमड़े के जूते बनाता है। वह दिन-रात चमडे.के बीच में रहता है। चमड़े की गन्ध उसे दुर्गन्ध नहीं लगती। पर कोई अन्य व्यक्ति उधर से गुजर भी जाता है, तो उसके लिए वह गन्ध असह्य हो उठती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सुगन्ध और दुर्गन्ध का वर्गीकरण स्थिर नहीं है। फिर भी कुछ चीजें ऐसी हैं, जो गन्ध को दो प्रकारों में बांटती हैं। भगवती सूत्र ८/१०९ में कोष्ठापुट चूर्ण को सुगन्ध और मृतक शरीर को दुर्गन्ध के निदर्शन रूप में प्रस्तुत किया।

चौथी इन्द्रिय है—रसना। इसका विषय है—रस।

रस के पांच प्रकार हैं—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर। रसों का ग्रहण रसना (जिह्वा) करती है, इसलिए इन्हें रसनेन्द्रिय के विषय रूप में स्वीकार किया गया है। सौंठ का स्वाद तिक्त होता है। नीम का रस कटु होता है। हरीतकी का रस कसैला होता है। इमली का रस अम्ल (खट्टा) होता है और चीनी का स्वाद मधुर होता है। मूलतः रस पांच हैं। इनके मिश्रण से नए रसों की निष्पत्ति भी हो सकती है, पर गौण होने के कारण उनका ग्रहण नहीं किया गया है।

संसार में जितने प्राणी हैं, उनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों को छोड़कर शेष सब जीवों के रसनेन्द्रिय होती है। जैसे-जैसे चेतना विकसित होती है, रस-बोध की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

पांचवीं इन्द्रिय है—स्पर्शन। इसका विषय है—स्पर्श।

स्पर्श के आठ प्रकार हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, कर्कश, मृदु, गुरु और लघु। इनमें प्रथम चार स्पर्श मूल के है। शेष चार स्पर्श सापेक्ष है। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष स्पर्श की बहुलता और न्यूनता के आधार पर लघु, गुरु, मृदु और कर्कश स्पर्श बनते हैं। रुक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है। स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श होता है। स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श बनता है तथा शीत और रुक्ष स्पर्श की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है।

६. कर्म के आठ प्रकार हैं –

१. ज्ञानावरणीय	५. आयुष्य
२. दर्शनावरणीय	६. नाम
३. वेदनीय	७. गोत्र
४. मोहनीय	८. अन्तराय

आठ कर्मों में चार घनघात्य प्रकृतियां एकांत अशुभ हैं –

१. ज्ञानावरणीय	३. मोहनीय
२. दर्शनावरणीय	४. अन्तराय

आठ कर्मो मे चार अघात्य प्रकृतियां शुभ-अशुभ दोनों हैं –

१. वेदनीय	३. गोत्र
२. नाम	४. आयुष्य

इस वर्ग के तीसरे बोल मे पुद्गल की आठ वर्गणाएं बताई गई हैं। उनमें एक वर्गणा है – कार्मण वर्गणा। यह वर्गणा कार्मण शरीर के रूप में परिणत होती है। इसका सम्बन्ध कर्म से है। कर्म क्या है? प्राणी की अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट पुद्गल स्कन्ध (कर्म वर्गणा) जो आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है, कर्म कहलाता है। कर्म मूलत: एक ही प्रकार का है। फिर भी छठे बोल में उसके आठ प्रकार बतलाए गए है। यह विभाग कर्मों के कार्य की अपेक्षा से है।

आत्मा की ज्ञान-चेतना को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है।

आत्मा की दर्शन-चेतना को आवृत करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है।

सुख और दु:ख की अनुभूति में हेतुभूत बनने वाला वेदनीय कर्म है।

चेतना को विकृत या मूर्च्छित करने वाला मोहनीय कर्म है।

किसी एक गति में निश्चित अवधि तक बांध कर रखने वाला आयुष्य कर्म है।

शरीर-संरचना की प्रकृष्टता या निकृष्टता का कारण नाम कर्म है।

जीव को अच्छी या बुरी दृष्टि से देखे जाने में निमित्त बनने वाला गोत्र कर्म है।

आत्म-शक्ति की उपलब्धि में बाधा पहुंचाने वाला अन्तराय कर्म है।

आत्मा की अन्य क्षमताओं पर आवरण डालने वाले या उन्हें अवरुद्ध करने वाले पुद्गल-समूह को अन्य कर्मों के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, पर ऐसा करने से कर्मों की संख्या गणना की सीमा के बाहर हो जाती। इसलिए संक्षेप में उनके आठ प्रकार बताकर अन्य प्रकारों को उन्हीं में अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। जब तक ये कर्म आत्मा के साथ एकीभूत रहेंगे, तब तक प्राणी को संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। कर्मों के बन्धन से छूटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है, अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त की जितनी सूक्ष्म मीमांसा की गई है, अन्य किसी दर्शन में उसे इस प्रकार समझाने का प्रयास आज तक नहीं हुआ है।

उक्त आठ कर्मों में सभी कर्म अशुभ तो हैं ही। पर इनमें चार शुभ भी हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय – ये चार कर्म एकान्त अशुभ हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र – ये चार कर्म शुभ एवं अशुभ दोनों हैं।

ज्ञानावरणीय आदि एकान्त अशुभ कर्मों को घनघात्य कर्म कहा जाता है। घात्य, घाती या घनघात्य ये पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा के मौलिक गुणों की घात करने वाले कर्म घात्य या घाती कहलाते हैं अथवा सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मों की घात हो सकती है, इसलिए इन्हें घनधात्य कहा जाता है।

शेष चार कर्म आत्मा के मौलिक गुणों की घात नहीं करते। ये साधारण प्रयत्न से क्षीण हो जाते हैं। इसलिए इन्हें अघात्य कर्म कहा जाता है। आत्मगुणों की घात न करने पर भी जीव के भव-भ्रमण में इनका पूरा-पूरा हाथ रहता है। इस दृष्टि से इन्हें भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है।

घात्य कर्मों का क्षय कर देने के बाद भी प्राणी की मुक्ति नहीं होती। क्योंकि वह भवोपग्राही कर्मों के बन्धन को नहीं तोड़ सका है। तीर्थंकर और केवली भी जब तक इनसे मुक्त नहीं होते, उन्हें संसार में रहना पड़ता है।

मोहनीय कर्म ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का अस्तित्व बारहवें गुणस्थान तक है। शेष चार भवोपग्राही कर्म चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बने रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान को पार करना, चार अधात्य कर्मों को क्षीण करना और मुक्त होना – ये सब काम एक साथ एक समय में घटित हो जाते हैं।

७. कर्म की इकतीस उत्तर प्रकृतियां हैं –

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं –

१. मतिज्ञानावरण
२. श्रुतज्ञानावरण
३. अवधिज्ञानावरण
४. मन:पर्यवज्ञानावरण
५. केवलज्ञानावरण

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां हैं –

१. चक्षुदर्शनावरण
२. अचक्षुदर्शनावरण
३. अवधिदर्शनावरण
४. केवलवर्शनावरण
५. निद्रा
६. निद्रानिद्रा
७. प्रचला
८. प्रचलाप्रचला
९. स्त्यानर्द्धि

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं –

१. सात वेदनीय
२. असात वेदनीय

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं –

१. दर्शन मोहनीय
२. चारित्र मोहनीय

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं –

१. नरक आयुष्य
२. तिर्यंच आयुष्य
३. मनुष्य आयुष्य
४. देव आयुष्य

नाम कर्म की दो प्रकृतियां हैं –

१. शुभ नाम
२. अशुभ नाम

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं –

१. उच्च गोत्र
२. नीच गोत्र

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं –

१. दान अन्तराय	**४. उपभोग अन्तराय**
२. लाभ अन्तराय	**५. वीर्य अन्तराय**
३. भोग अन्तराय	

दूसरे वर्ग के छठे बोल के विश्लेषण में यह बताया जा चुका है कि मूलतः कर्म एक ही है, फिर भी कार्य की अपेक्षा से उसके आठ भेद किए गए हैं।

ये आठों भेद कर्म की मूल प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों के उत्तर भेद अनेक हैं। ज्ञान के जितने भेद हो सकते हैं, उनके साथ आवरण शब्द जोड़ कर ज्ञानावरण के उपभेद किए जा सकते हैं। इस क्रम से कर्म की उत्तर प्रकृतियां किसी संख्या में आबद्ध नहीं हो सकतीं। विशद विवेचन किया जाए तो कर्म की सैकड़ों प्रकृतियां अपनी निश्चित पहचान बनाए हुए हैं। प्रस्तुत पाठ में संक्षेप और विस्तार दोनों विवेचनों से हटकर मध्य का मार्ग स्वीकार किया गया है। इसमें कर्म की इकतीस प्रकृतियों का उल्लेख है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। ज्ञान के मुख्य भेद ये पांच है, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म की मुख्य प्रकृतियां पांच हो गईं।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां हैं – चक्षुदर्शनावरण अचक्षु-दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि।

दर्शनावरण का अर्थ है – साक्षात्कार में बाधा। जिस प्रकार चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण आदि के उदय से इन्द्रियों द्वारा होने वाले विषय के साक्षात्कार में बाधा उपस्थित होती है, उसी प्रकार निद्रा आदि पांच प्रकृतियों के उदय से भी साक्षात्कार में बाधा पहुंचती है। निद्रा दर्शनावरण की वह प्रकृति है, जो सुख से आती है और सुख से चली जाती है। निद्रानिद्रा प्रकृति का उदय होने से नींद आती तो सुख से है, पर टूटती बहुत मुश्किल से है। बैठे-बैठे नींद आना प्रचला है और खड़े या चलते समय आने वाली नींद प्रचला-प्रचला है। स्त्यानर्द्धि निद्रा कुछ विचित्र प्रकार की है। इस नींद में व्यक्ति कुछ भी कर लेता है, पर उसे उसका भान नहीं होता। युद्ध जैसी क्रूर प्रवृत्ति करने के वाद भी वह यन्त्रवत् अपने स्थान पर लौटकर सो जाता है। उस समय

उसकी चेतना प्रगाढ मूर्च्छा से घिर जाती है। मूर्च्छा टूटती है तब उसे अनुभव होता है मानो वह कोई स्वप्न देख रहा हो। किन्तु वह कल्पना या स्वप्न नहीं होता। निद्रा की प्रगाढ़ अवस्था में घटित होने के कारण उसमें स्वप्न का प्रतिभास होता है।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं – सात वेदनीय और असात वेदनीय। सांसारिक प्राणी सुख या दु:ख इन दोनों में से एक का वेदन अवश्य करता है। सात वेदनीय के उदय से शारीरिक और मानसिक सुख की अनुभूति होती है। असात-वेदनीय के उदय से मानसिक संक्लेश और शारीरिक कष्ट का अनुभव होता है।

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं – दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां भी प्रसिद्ध हैं। उनमें दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं और चारित्र मोहनीय की पच्चीस। पर यहां उन्हें विवक्षित नहीं किया गया है। दर्शन मोहनीय सम्यक्त्व का बाधक है और चारित्र मोहनीय संयम का।

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं – नरक आयुष्य, तिर्यंच आयुष्य, मनुष्य आयुष्य और देव आयुष्य। पूर्व निबद्ध आयुष्य कर्म पूरा भोग लेने के वाद ही जीव एक भव से दूसरे भव में जा सकता है। आयुष्य कर्म का सम्पूर्ण क्षय मोक्ष है।

नाम कर्म की एक सौ बयालीस प्रकृतियों का उल्लेख शास्त्रों और ग्रन्थों में मिलता है। यहां उसकी दो प्रकृतियां बताई गई हैं – शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम कर्म के उदय से जीव को गति, जाति, शरीर, संस्थान आदि अच्छे प्राप्त होते हैं और अशुभ नाम कर्म के उदय से ये सब अशुभ हो जाते हैं।

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं – उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये दोनों गोत्र एक ही जीव में पाए जा सकते हैं और स्वतन्त्र रूप से भी पाए जा सकते हैं। एक व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न है पर रूप-सम्पन्न नहीं है तो वह दोनों प्रकृतियों को एक साथ भोगता है।

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं – दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग अन्तराय और वीर्य अन्तराय। अन्तराय का अर्थ है – बाधा। वीर्य आत्मा का गुण है। उसकी उपलब्धि और उपभोग अन्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से ही संभव है। दान, लाभ, भोग और उपभोग – ये कोई मौलिक गुण नहीं है। अमूर्त वीर्य को मूर्त प्रतीकों से समझाने की दृष्टि से ये भेद किए गए हैं।

दानान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो औदार्य गुण प्रकट होता है, वह एक प्रकार की क्षमता ही है। वस्तु प्राप्त करने की क्षमता लाभान्तराय कर्म के क्षय

या क्षयोपशम से मिलती है। पदार्थ प्राप्त होने पर भी बहुत से लोग उनके उपभोग से वंचित रह जाते हैं। पदार्थ के भोगोपभोग की क्षमता भी इसी कर्म के क्षय-क्षयोपशम से उपलब्ध होती है। इस कर्म की प्रकृतियों में वीर्यान्तराय प्रकृति प्रमुख है। अन्य प्रकृतियां गौण हैं।

८. कर्म के आठ दृष्टान्त हैं –

१. ज्ञानावरणीय कर्म – आंख की पट्टी के समान
२. दर्शनावरणीय कर्म – प्रहरी के समान
३. वेदनीय कर्म – मधुलिपटी तलवार की धार के समान
४. मोहनीय कर्म – मद्यपान के समान
५. आयुष्य कर्म – बेड़ी के समान
६. नाम कर्म – चित्रकार के समान
७. गोत्र कर्म – कुंभकार के समान
८. अन्तराय कर्म – कोषाध्यक्ष के समान

आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के द्वारा कर्म वर्गणा आकृष्ट होती है और वह आत्मा के साथ संपृक्त होकर कर्म कहलाती है। आत्मा से संश्लिष्ट होते ही कर्म अपना प्रभाव नहीं दिखाते। एक निश्चित समय तक वे आत्मा से चिपके रहते हैं। इस स्थिति को अबाधा, सत्ता या अनुदयावस्था कहा जाता है। इस अवस्था को छोड़कर कर्म जिस क्षण उदय में आते हैं, उसी क्षण से अपना काम करना शुरू कर देते हैं। कर्म का संवेदन करने वाला या उसका फल भोगने वाला कुछ समझे या नहीं, फल भोग की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। साधारण व्यक्ति इस प्रक्रिया को समझ सके, इस दृष्टि से शास्त्रों में कुछ दृष्टान्त बताये गए हैं। यद्यपि दृष्टान्त एकदेशीय होते हैं। वे अपने प्रतिपाद्य को समग्रता से अभिव्यक्ति नहीं दे सकते। पर आंशिक रूप से जितना स्पष्ट अवबोध उदाहरणों से होता है, परिभाषाओं से नहीं हो सकता। इसलिए गूढ़ और सूक्ष्म रहस्यों को समझाने के लिए दृष्टान्तों को काम में लिया जाता है।

इस बोल में प्रत्येक कर्म की फल देने की प्रक्रिया उदाहरण के माध्यम से निरूपित है।

ज्ञानावरणीय कर्म आंख की पट्टी के समान है। आंख पर पट्टी बांध लेने से दृश्य पदार्थ और आंख के मध्य आवरण आ जाता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्राणी की ज्ञानचेतना आवृत हो जाती है। यह कर्म जानने में बाधा पहुंचाता है।

दर्शनावरणीय कर्म प्रहरी के समान है। जिस प्रकार प्रहरी की अनुमति बिना किसी बड़े आदमी से मिलना सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय से देखने अथवा पदार्थ का सामान्य ज्ञान करने में अवरोध उपस्थित हो जाता है।

वेदनीय कर्म मधुलिपटी तलवार की धार के समान है। मधु का आस्वादन सात वेदनीय कर्म है और जीभ का कटना असात वेदनीय का संवेदन है।

मोहनीय कर्म मद्यपान के समान है। जैसे मदिरा पीने वाला व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो देता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से चेतना विकृत होती है, व्यक्ति मूढ़ बनता है और अपने हिताहित का विवेक खो देता है।

आयुष्य कर्म बेड़ी के समान है। बेड़ी में बंधा हुआ व्यक्ति उसे तोड़े बिना मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य कर्म का भोग किए बिना प्राणी एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता।

नाम कर्म चित्रकार के समान है। चित्रकार अपनी कल्पना की उपज से नये-नये चित्रों का निर्माण करता है। वैसे ही नाम कर्म शरीर, संस्थान आदि की संरचना को अनेक रूप देता है।

गोत्र कर्म कुम्भकार के समान है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े मनचाहे घड़े बनाता है, वैसे ही गोत्र कर्म के उदय से प्राणी ऊंच-नीच आदि बनते हैं।

अन्तराय कर्म कोषाध्यक्ष के समान है। अधिकारी का आदेश प्राप्त होने पर भी कोषाध्यक्ष के दिए बिना वांछित वस्तु नहीं मिलती। इसी प्रकार सब सुविधाएं सुलभ होने पर भी अन्तराय कर्म दूर हुए बिना उनका भोग नहीं हो सकता।

इन आठों कर्मों के फलदान सम्बन्धी दृष्टान्तों का अवबोध व्यक्ति को कर्म-बन्धन मूलक प्रवृत्तियों से दूर हटने मे सहायक बन सकता है।

९. कर्म की दस अवस्थाएं हैं –

१. बध	६. अपवर्तन
२. सत्ता	७. संक्रमण
३. उदय	८. उपशम
४. उदीरणा	९. निधत्ति
५. उद्‌वर्तन	१०. निकाचना

हर पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, पर्याय होती हैं। पदार्थ है तो पर्याय का होना जरूरी है। क्योंकि कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होता, जिसमें रूपान्तरण न हो, बदलाव न हो, पर्याय का परिवर्तन न हो। पर्याय का अर्थ है – पूर्व अवस्था का परित्याग और नयी अवस्था का स्वीकार। हर पदार्थ की पर्याय अनन्त हैं, इस दृष्टि से कर्म की पर्याय भी अनन्त हैं। किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में जो वर्गीकरण किया गया है, वह स्थूल अवस्थाओं की दृष्टि से है।

संसारी जीव कर्म सहित होते हैं। कर्म के संयोग से वे विविध अवस्था को प्राप्त करते हैं और जीव के पुरुषार्थ से कर्म की विविध अवस्थाएं हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है – जीव का योग पाकर कर्म वर्गणा के पुद्‌गल कर्म है और कर्मों के योग से जीव, संसारी जीव हैं।

कर्मों की दस अवस्थाओं में सबसे पहली अवस्था है – बंध। यह आत्मा और कर्मों के एकीभूत होने की अवस्था है।

बंध के बाद जब तक कर्म फल नहीं देते हैं, वह आत्मा से संलग्न रहता है। उस समय उसका अस्तित्व है, पर वह सक्रिय नहीं है। इस दृष्टि से इस अवस्था को 'सत्ता' के रूप में माना गया है।

आत्मा के साथ एकीभूत कर्म सक्रिय हो जाता है, फलदान में प्रवृत्त हो जाता है, उस स्थिति को 'उदय' कहते है।

निश्चित उदय काल से पहले विशेष पुरुषार्थ का प्रयोग कर कर्मों को उदय में ले आना 'उदीरणा' है।

जिस कर्म की जितनी स्थिति बंधी हुई है और जैसा रस है उसे किसी निमित्त से बढ़ा देना 'उद्‌वर्तन' है।

कर्मों की बंधी हुई स्थिति और उसके रस को उससे कम कर देना 'अपवर्तन' है।

संक्रमण का अर्थ है एक का दूसरे में परिवर्तन। एक ही कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियां जब परस्पर संक्रान्त हो जाती हैं, तब उस स्थिति को 'संक्रमण' कहा जाता है।

आठ कर्मों में सर्वाधिक सक्षम मोहनीय कर्म को दबाना – उसे अकिंचित्कर बना देना 'उपशम' है।

आत्मा और कर्म के संबंध को गाढ़ बनाने का नाम 'निधत्ति' है।

आत्मा और कर्म के संबंध को इतना प्रगाढ़ बना देना, जहां स्थिति आदि में न्यूनता – अधिकता हो ही न सके, वह 'निकाचना' है।

इस प्रकार कर्म की और भी अवस्थाएं हो सकती है, पर यहां दस अवस्थाओं की ही चर्चा है।

१०. कर्म के चार कार्य हैं –

१. आवरण ३. अवरोध

२. विकार ४. शुभाशुभ का संयोग

अर्थक्रियाकारित्व पदार्थ का लक्षण है। कोई भी पदार्थ हो, वह अपना काम करता रहता है। कर्म भी एक अस्तित्ववान् पदार्थ है। वह भी प्रतिक्षण अपना काम करता रहता है। इस वर्ग के छठे बोल में कर्म की मूलभूत आठ प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। वे प्रकृतियां आत्मा से संबद्ध होकर कर्म कहलाती है। जब तक उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं होता, वे कर्मवर्गणा के रूप में रहती है, पर कर्म के रूप में परिणत नहीं होतीं। प्रश्न यह है कि कर्म का काम क्या है? वे आत्मा पर क्या प्रभाव डालते है? इस प्रश्न का समाधान इस बोल में है। कर्मों के चार कार्य हैं –

आवरण – आत्मा के मूल गुणों को आच्छादित करना।

विकार – आत्मा के मूल गुणों को विकृत करना।

अवरोध – आत्मा के विकास में बाधा डालना।

शुभाशुभ का संयोग – आत्मा के शुभ और अशुभ संयोग में निमित्त बनना।

आवरण का काम करने वाले कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहलाते हैं। ये आत्मा के मूल गुण-ज्ञान और दर्शन को आवृत करते हैं। यद्यपि ज्ञान और दर्शन आत्मा के सहज धर्म है, फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति की ज्ञान-चेतना और दर्शन-चेतना के विकास में तारतम्य रहता है, उसका कारण कर्मों का उदय है। कर्मों का जितना-जितना क्षयोपशम होता है, हलकापन होता है, विकास की मात्रा उतनी ही बढ़ जाती है। आकाश में सूर्य होता है। मेघ घटा उसे आच्छादित कर देती है। इसे सूर्य का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, पर वह पर्याप्त प्रकाश करने में अक्षम हो जाता है। जैसे-जैसे बादल छिन्न-भिन्न होते हैं, प्रकाश अधिक हो जाता है। आवारक कर्म ज्ञान-सूर्य को कमोबेस रूप में आच्छादित कर अपना प्रभाव दिखाते हैं।

विकारक कर्म आत्म-गुणों में विकार उत्पन्न करता है। इससे आत्मा अपने मूल स्वरूप को विकृत कर विवेक-चेतना खो बैठती है। यह काम मोह कर्म का है। इससे मूढ़ता की स्थिति उत्पन्न होती है।

अवरोधक कर्म आत्मशक्ति की उपलब्धि में बाधक बनता है। यह काम अन्तराय कर्म का है। इस कर्म के उदय से आत्मा में निहित शक्तियों का भी प्रस्फोट या उपयोग नहीं हो सकता।

शुभ-अशुभ संयोग में निमित्त बनते हैं चार अघात्य कर्म। ये कर्म आत्म गुणों को नुकसान नहीं पहुंचा सकते। पर देह-संरचना, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के भाव और अभाव में इनका पूरा हाथ रहता है। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य – ये चार कर्म आत्मा के शुभ और अशुभ संयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

११. कर्म-बंध के चार विकल्प –

१. एक कर्म (सात वेदनीय) का बन्ध-ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में।

२. छह कर्मों (मोहनीय ओर आयुष्य को छोडकर) का बन्ध-दसवें गुणस्थान में।

३. केवल सात कर्मों (आयुष्य को छोड़कर) का बन्ध-तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में।

४. आठ-सात कर्मों का बन्ध-पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में।

पिछले बोलों में कर्म, कर्म-बंध के हेतु और कर्मों की प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। अब प्रश्न यह होता है कि सब कर्मों का बंध एक साथ ही होता है या अलग-अलग भी होता है? इस प्रश्न का उत्तर ग्यारहवें बोल में दिया गया है। इसके अनुसार कम-से-कम एक कर्म का और अधिक-से-अधिक आठों कर्मों का बंध एक साथ हो सकता है। कर्म-बंध के इस वर्गीकरण के लिए आधार बनाया गया है गुणस्थानों को। किस गुणस्थान में कितने कर्मों का बंध होता है? इस विवक्षा से कर्म-बंधन के चार विकल्प बनते हैं।

१. ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक ही कर्म का बंध होता है। एक वेदनीय कर्म, वह भी केवल सात वेदनीय, वह भी दो समय की स्थिति वाला। एक दृष्टि से देखा जाये तो वह नाममात्र का बंधन है। प्रथम समय में उसका बंधन होता है, दूसरे समय वह भोग में आता है और तीसरे समय क्षीण हो जाता है। कर्म को टिकाकर रखने वाला तत्त्व है कषाय। इन गुणस्थानों में होने वाला बन्धन कषाय से नहीं, योग से होता है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

२. दसवें गुणस्थान का नाम है सूक्ष्मसम्पराय। वहां आयुष्य और मोह के अतिरिक्त छह कर्मों का बंधन प्रतिसमय होता रहता है। मोह कर्म का बंध कषाय की तीव्रता से होता है। दसवें गुणस्थान तक कषाय रहता है, पर वह वहां अत्यन्त सूक्ष्म या मंद हो जाता है। मोह कर्म की वर्गणा को आकृष्ट करने में जितने प्रबल कषाय का योग होना चाहिए, वह वहां नहीं रहता। इसलिए दसवें गुणस्थान में छह ही कर्मो का बंधन होता है।

३. तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में सात कर्मों का बंधन होता है। तीसरे गुणस्थान में अध्यवसायों की अस्थिरता होने के कारण आयुष्य कर्म का बंधन नहीं होता। अप्रमत्त अवस्था से आगे आयुष्य का बंध संभव नहीं है। इस दृष्टि से इन तीन गुणस्थानों में सात कर्मों का बंधन होता है।

४. पहले, दूसरे, चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में आठ या सात कर्मों का बंधन होता है। सात कर्मों का बंध प्रतिक्षण होता है। आयुष्य कर्म का बंध जीवन

में एक बार ही होता है। इस दृष्टि से आयुष्य-बंधन के समय आठ कर्मों का बंधन होता है और अन्य समय में सात कर्मों का बंधन होता है।

चौदहवें गुणस्थान में बन्धन के निमित्त कषाय और योग दोनों का अभाव है, इसलिए वहां किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता। नये सिरे से बन्धन न होने का कारण उस गुणस्थान का जीव भवोपग्राही अघात्य कर्मों के टूटते ही मुक्त हो जाता है।

१२. कर्म बंध के आठ हेतु हैं –

१. ज्ञानावरणीय कर्म – ज्ञान के प्रति असद् व्यवहार

२. दर्शनावरणीय कर्म – दर्शन के प्रति असद् व्यवहार

३. वेदनीय कर्म – दुःख देने और दुःख न देने की प्रवृत्ति

४. मोहनीय कर्म – मिश्र कषाय का प्रयोग

५. आयुष्य कर्म –

नरक आयुष्य – क्रूर व्यवहार

तिर्यंच आयुष्य – वंचनापूर्ण व्यवहार

मनुष्य आयुष्य – ऋजु व्यवहार

देव आयुष्य – संयत व्यवहार

६. नाम कर्म – कथनी-करनी की समानता और असमानता

७. गोत्र कर्म – अहंकार और अहंकार का विसर्जन

८. अन्तराय कर्म – किसी के कार्य मे बाधा डालना

कर्म के सम्बन्ध में बहुत लम्बी चर्चा हो जाने पर भी एक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है। वह है बन्धन की प्रक्रिया से सम्बन्धित। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन सहेतुक है या निर्हेतुक? वह आमन्त्रित होता है या अनायास ही जाता है? आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। जड़ और चेतन का योग संभव है क्या? इन प्रश्नों का समाधान बारहवें बोल में दिया गया है।

'न हि अकारणं कार्य भवति' – कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता, यह शाश्वत नियम है। इसी के आधार पर कारण-कार्यवाद की परम्परा चली। कर्म-बन्धन

भी अकारण नहीं है। यदि इसे अकारण मान लिया जाए तो सिद्धों के भी कर्म-बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए हमें बन्धन के हेतुओं पर विचार करना होगा।

कर्म-बन्धन का मूल कारण है आश्रव। आश्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। प्रथम चार आश्रव अव्यक्त है और योग आश्रव व्यक्त है। कर्म पुद्गलों को ग्रहण करने का सर्वाधिकार इसी योग आश्रव को प्राप्त है। योग तीन प्रकार कां होता है—मन योग, वचन योग और काय योग। इन तीनों में काय योग स्थूल है। इसलिए मन और वचन योग की प्रवृत्ति का हेतु काय योग ही बनता है।

योग की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है। प्रवृत्ति के साथ बन्धन का अविनाभावी सम्बन्ध है। स्थूल और सूक्ष्म हर प्रवृत्ति समग्रता से कर्म पुद्गलों को आकर्षित करती है। इस दृष्टि से बन्धन के कारणों को विश्लेषित करना कठिन है। फिर भी स्थूल रूप से कुछ कारणों का संकेत किया जा सकता है—

ज्ञान या ज्ञानी के प्रति असद् व्यवहार ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दर्शन या दर्शनी के प्रति असद् व्यवहार दर्शनावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दुःख देने और दुःख न देने की प्रवृत्ति वेदनीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

तीव्र कषाय का प्रयोग करने से मोह कर्म का बन्धन होता है।

क्रूर व्यवहार, वंचनापूर्ण व्यवहार, ऋजुव्यवहार और संयत व्यवहार से क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयुष्य का बन्धन होता है।

कथनी और करनी की समानता से शुभ नाम तथा असमानता से अशुभ नाम कर्म का बन्धन होता है।

अहंकार करने से नीच गोत्र और अहंकार का विसर्जन करने से उच्च गोत्र कर्म का बन्धन होता है।

किसी के कार्य में बाधा डालने से अन्तराय कर्म का बन्धन होता है।

कर्म आठ है। आठों कर्मों के बन्धन में स्थूल रूप से निमित्त बनने वाले आठ कारणों को यहां उल्लिखित कर दिया गया है। यह मात्र संकेत है। ऐसे और भी अनेक कारण हैं, जो बन्धन में निमित्त हैं। उन सबको जानकर उनसे उपरत रहने का प्रयास करना ही इस ज्ञान की सार्थकता है।

१३. आठ कर्मों में बन्धकारक कर्म दो हैं –
१. मोहनीय कर्म से अशुभ कर्म का बन्ध।
२. नाम कर्म से शुभ कर्म का बन्ध।

प्रश्न यह होता है कि आत्मा के कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन करने वाला कौन है? जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्ता है। आत्मा स्वयं बंधती है और स्वयं के पुरुषार्थ से ही मुक्त होती है। यहां प्रतिप्रश्न खड़ा होता है कि बंधने और मुक्त होने में आत्मा स्वतन्त्र है तो वह बंधेगी क्यों? बंधने में उसका कोई लाभ तो है नहीं। बिना लाभानुभूति बंधन की ओर अग्रसर होने का औचित्य क्या है?

यह प्रश्न औचित्य का नहीं, नियम का है। आत्मा पहले से ही कर्म पुद्गलों से आबद्ध है। पूर्व बन्धन की प्रेरणा से आत्मा में स्पन्दन होता है। स्पन्दन से सत्-असत् प्रवृत्ति होती है और उससे नया बन्धन होता है। यदि यह नियम नहीं होता तो मुक्त आत्मा के भी बन्धन होता। आत्मा ने कर्म पुद्गलों से सम्बन्ध कब किया? इस प्रश्न का उत्तर काल की सीमा में मिलना कठिन है। बन्धन की यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है जौर तब तक चलती रहेगी जब तक आत्मा विकास की चौदहवीं अर्थात् अंतिम भूमिका तक नहीं पहुंच जाएगी।

कर्म वर्गणा वर्गीकृत होकर आठ भागों मे बंट जाती है। वे आठों कर्म आत्म प्रदेशों के साथ एकीभूत हैं, पर बन्धन के कारण वे सब नहीं हैं। मुख्य रूप में बन्धन के कारण दो कर्म हैं – मोहनीय और नाम। क्योंकि बन्धन में दो तत्त्व काम करते हैं – आसक्ति और स्पन्दन। दूसरे शब्दों में कषाय और योग। ये दोनों तत्त्व न हों तो बन्धन को कोई अवकाश ही नहीं मिलता। कषाय का सम्बन्ध मोह कर्म से है और योग का सम्बन्ध नाम कर्म से है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कर्म बन्धन में दो ही कर्म सक्रिय है – मोह और नाम। मोह कर्म से पाप का बन्धन होता है और नाम कर्म से पुण्य का। मोह से पाप या अशुभ का बन्धन होता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां नाम कर्म निष्क्रिय हो जाता है। पुण्य या शुभ कर्म के बन्धन में नाम कर्म को निमित्त माना गया है, पर वहां भी मोह कर्म की क्रिया बन्द नहीं होती।

कर्मपुद्गलों का आकर्षण योग आश्रव के द्वारा होता है, फिर चाहे बन्धन पुण्य का हो या पाप का। योग आश्रव का सम्बन्ध नाम कर्म से है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आठ कर्मों में बन्धन कारक कर्म केवल नाम कर्म है। नाम कर्म से

होने वाली जिस प्रवृत्ति के साथ मोह कर्म का योग होता है, वह अशुभ हो जाती है। उक्त अपेक्षा के आधार पर यह कहा जाता है कि मोह कर्म से पाप लगता है।

१४. क्रिया के पाच प्रकार हैं –

१. कायिकी	४. पारितापनिकी
२. आधिकरणिकी	५. प्राणातिपात क्रिया
३. प्रादोशिकी	

अथवा

१. आरम्भिकी	४. अप्रत्याख्यान क्रिया
२. पारिग्रहिकी	५. मिथ्यादर्शनप्रत्यया
३. मायाप्रत्यया	

क्रिया का अर्थ है – कर्म बन्धन की प्रवृत्ति। नौ तत्त्व में कर्म-बन्धन के हेतुभूत तत्त्व को आश्रव माना गया है। इस अपेक्षा से आश्रव और क्रिया में कोई अन्तर नहीं है। कुछ ग्रन्थों में आश्रव के बयालीस भेद बताए गए हैं। उनमें पचीस प्रकार की क्रियाओं का समावेश किया गया है। उन पचीस क्रियाओं में से दस प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख इस बोल में किया गया है। उन दस क्रियाओं को पांच-पांच क्रियाओं में वर्गकृत कर यहां निरूपित किया गया है। प्रथम वर्ग की पांच क्रियाएं –

कायिकी – हिंसा आदि में प्रवृत्त काया से होने वाली क्रिया।

आधिकरणिकी – शरीर या किसी उपकरण का शस्त्र रूप में प्रयोग करने से होने वाली क्रिया।

प्रादोशिकी – कषाय से होने वाली क्रिया।

पारितापनिकी – किसी प्राणी को परिताप-कष्ट पहुंचाने से होने वाली क्रिया।

प्राणातिपात क्रिया – प्राणों का अतिपात-वियोजन करने से होने वाली क्रिया।

प्रकारान्तर से क्रियाओं का एक वर्ग यह बतलाया गया है –

आरंभिकी – हिंसात्मक प्रवृत्ति से होने वाली क्रिया।

पारिग्रहिकी – परिग्रह से होने वाली क्रिया।

मायाप्रत्यया – कषाय से होने वाली क्रिया।

अप्रत्याख्यान क्रिया – अत्याग-भाव से होने वाली क्रिया।

मिथ्यादर्शन-प्रत्यया – मिथ्यात्व से होने वाली क्रिया।

उक्त दोनों ही प्रकार की क्रियाओं से कर्म का बन्धन होता है। इसलिए ये त्याज्य हैं। जीव कोई भी क्रिया करता है तो कम-से-कम तीन क्रियाएं अवश्य होती है। कदाचित् चार और पांच क्रियाएं भी एक साथ हो सकती हैं। इन सब क्रियाओं को छोड़कर अक्रिया बनने वाला प्राणी ही बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण कर सकता है।

१५. संज्ञा के दस प्रकार हैं –

१. आहार	**६. मान**
२. भय	**७. माया**
३. मैथुन	**८. लोभ**
४. परिग्रह	**९. लोक (विशिष्ट या अर्जित वृत्ति)**
५. क्रोध	**१०. ओध (सामान्य या नैसर्गिक वृत्ति)**

जीव की एक विशेष प्रकार की वृत्ति का नाम संज्ञा है। यह संसार के बहुसंख्यक प्राणियों मे पायी जाती है। किसी प्राणी में ये संज्ञाएं बहुत गहरी होती हैं तो किसी में बहुत साधारण। छोटे-बड़े प्राय: सभी प्राणियों में पायी जाने वाली यह संज्ञा आखिर है क्या? इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य मे संज्ञा की अनेक परिभाषा उभर कर सामने आ जाती है। उनमें से कुछ परिभाषाएं ये हैं –

✲ जिससे जाना जाता है, संवेदन किया जाता है, वह संज्ञा है।

✲ मानसिक ज्ञान अथवा समनस्कता का नाम संज्ञा है।

✲ भौतिक वस्तु की प्राति तथा प्राप्त वस्तु के संरक्षण की व्यक्त अथवा अव्यक्त अभिलाषा का नाम संज्ञा है।

✲ वेदनीय अथवा मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी में आहार आदि की प्राप्ति के लिए जो स्पष्ट और अस्पष्ट व्यग्रता अथवा सक्रियता रहती है, वह संज्ञा है।

✲ मनोविज्ञान की भाषा में प्राणी जगत् की जो मूल वृत्तियां है, उन्हीं को जैन सिद्धान्त संज्ञा के रूप में प्रतिपादित करता है।

ज्ञान, संवेदना, अभिलाषा, चित्त की व्यग्रता या मूल वृत्ति, किसी भी शब्द का प्रयोग हो, मूल बात यह है कि प्राणी एक ऐसी स्थिति से गुजरता है, जो उसका स्वभाव न होने पर भी स्वभाव जैसी लगने लगती है। जैसे हर प्राणी में काम, क्रोध आदि वृत्तियां होती हैं। उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये तो प्राणी का स्वभाव है। मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि कुछ प्राणियों में संज्ञा का होना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है और कुछ प्राणियों के व्यवहार मे उसका थोड़ा भी आभास नहीं मिलता।

१. **आहार संज्ञा** – भोजन के लिए गहरी अभीप्सा और आसक्ति का मनोभाव।

२. **भय संज्ञा** – किसी कल्पित या वास्तविक भयोत्पादक स्थिति में होने वाली घबराहट।

३. **मैथुन संज्ञा** – वासना की वृत्ति, आत्मा को विस्मृत कर पर के साथ रमण करने का मनोभाव।

४. **परिग्रह संज्ञा** – पदार्थ के ग्रहण और संरक्षण की मनोवृत्ति और पदार्थ के प्रति होने वाला ममत्व।

५. **क्रोध संज्ञा** – राग-द्वेष-मूलक उत्तेजना रूप मनोभाव ।

६. **मान संज्ञा** – अहंकार को उत्पन्न करने और बनाए रखने वाली मनोवृत्ति।

७. **माया संज्ञा** – छलना, वंचना आदि की मनोवृत्ति।

८. **लोभ संज्ञा** – लालसा बढ़ाने वाली मनोवृत्ति।

९. **लोक संज्ञा** – विशिष्ट या अर्जित मनोवृत्ति।

१०. **ओघ संज्ञा** – सामान्य या नैसर्गिक मनोवृत्ति।

उपर्युक्त दस संज्ञाओं में आठ संज्ञाएं ऐसी हैं, जो अपने नाम से ही अपने स्वरूप का बोध करा देती हैं। शेष दो – लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा की परिभाषा उनके नाम से स्पष्ट नहीं हो पाती।

लोक संज्ञा वैयक्तिक चेतना का प्रतीक है। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते, किन्तु व्यक्ति की अपनी विशिष्ट रुचि या संस्कार के कारण होते हैं। आनुवंशिकता – माता, पिता के गुण-दोषों का संक्रमण, पूर्वजों की व्यावसायिक परम्परा का अनुगमन आदि कई आचरण एसे हैं, जो लोक संज्ञा के कारण होते हैं।

ओघ संज्ञा सामुदायिकता की संज्ञा है। यह प्राणी की सामान्य वृत्ति है। जैसे – बेल सहारा मिलने से ऊपर चढ़ जाती है। भूकम्प या तूफान आने से पहले ही पशु-पक्षी उसका आभास पाकर सुरक्षित स्थान में पहुंच जाते हैं। यह ऐन्द्रियिक या मानसिक ज्ञान नहीं, किन्तु चेतना के अनावरण की स्वतंत्र क्रिया है। यह करने से नहीं, सहज होती है, इसलिए इसे ओघ संज्ञा कहा गया है। संज्ञा के इन दस प्रकारों में प्रथम आठ प्रकारों को संवेगात्मक और शेष दो प्रकारों को ज्ञानात्मक माना गया है।

१६. आहार के तीन प्रकार हैं –

१. ओज २. रोम ३. कवल

संसार में रहने वाले किसी भी जीव के जीवन का आधार आहार होता है। जब तक आहार का आधार बना रहता है, जीव जीवित रहता है। उस आधार के छूटते ही मृत्यु हो जाती है। सामान्यत: कवल आहार को ही आहार मान लिया जाता है, पर यह बहुत स्थूल बात है। हमारा जीवन केवल इसी स्थूल आधार पर टिका नहीं रह सकता। इस आहार के न लेने पर भी प्राणी महीनों तक जीवित रह सकता है। क्योंकि दूसरे स्रोतों से आहार की पूर्ति होती रहती है। वह आहार है – ओज और रोम।

ओज आहार का ग्रहण जीव की उत्पत्ति के समय ही होता है। इससे आहार के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन की पौद्गलिक क्षमता प्राप्त हो जाती है। इस क्षमता के द्वारा जीव एक साथ आवश्यक पुद्‌गलों को खींच लेता है। प्रथम क्षण में वह जितने पुद्‌गल खींचता है, उन सबको आत्मसात् कर लेता है। दूसरे क्षण वह फिर पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, पर उसके साथ कुछ पुद्‌गलों को छोड भी देता है। ग्रहण और विसर्जन का यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है।

उबलते हुए घी या तेल में कोई पूआ छोड़ा जाता है तो वह एक साथ उस घी या तेल को अपने भीतर समेट लेता है। दूसरे क्षण वह घी या तेल को सोखता है तो छोड़ता भी है। ग्रहण और विसर्जन का यह क्रम चलता रहता है।

प्रथम समय में गृहीत ओज आहार जब तक नहीं चुकता है, तब तक जीवन बना रहता है। इस आहार के चुक जाने पर रोम आहार और कवल आहार का कोई उपयोग नहीं रहता।

ओज आहार ग्रहण करने के बाद शरीर निर्मित होता है। उसके अवयवों का विकास होने के बाद गर्भावस्था में ही रोम आहार शुरू हो जाता है। यह आहार भी जीवन के अन्त तक चलता रहता है। दिन-रात, सोते-जागते, घूमते-ठहरते हर क्षण रोम आहार का ग्रहण होता है और यह भी जीवन-धारण में पूरा सहयोग रखता है।

तीसरा आहार है कवल आहार। यह समय-समय पर ग्रहण किया जाता है। जीवन-धारण में इस आहार का भी उपयोग है, किन्तु इसके ही आधार पर जीवन चलता है, ऐसी बात नहीं है। इस आहार में खाद्य, पेय, लेह्य आदि सब प्रकार के पदार्थों का समावेश होता है। यह आहार मुख के द्वारा लिया जाता है। इस आहार का उपयोग तब तक ही होता है, जब तक शरीर को ओज आहार का पोषण मिलता रहता है। ओज आहार समाप्त होने के बाद दूसरे किसी आहार में जीवन धारण कर रखने की क्षमता नहीं है।

१७. जन्म के तीन प्रकार हैं –

१. गर्भ २. उपपात ३. संमूर्च्छन

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, उसे जन्म और मृत्यु की परिक्रमा करनी होती है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म, यह एक निश्चित क्रम है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा सब कर्मों से मुक्त नहीं हो जाती। जन्म का अर्थ है उत्पत्ति। सब जीवों के उत्पन्न होने का क्रम एक समान नहीं होता, इसलिए जन्म के अनेक प्रकार हो जाते हैं। उन सब प्रकारों का संक्षिप्ततम वर्गीकरण किया जाए तो उसमें उक्त तीन श्रेणियों का निर्धारण किया जा सकता है।

जिन जीवों की उत्पत्ति स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य से होती है, उनके जन्म को गर्भ कहा जाता है। इस श्रेणी में केवल पांच इन्द्रिय वाले मनुष्य और तिर्यंच प्राणी आते हैं। वे तीन प्रकार के हैं – जरायुज, अण्डज और पोतज।

जरायुज – जो जीव जन्म के समय एक विशेष प्रकार की झिल्ली से परिवेष्टित रहते हैं, उनको जरायुज कहते हैं। मनुष्य, गाय आदि प्राणी जरायुज होते है।

अण्डज – जो जीव अण्डों से उत्पन्न होते हैं, वे अण्डज कहलाते हैं। पक्षी, सर्प आदि प्राणी इस वर्ग में आते हैं।

पोतज – जो जीव जन्म के समय खुले अंग वाले होते हैं, जन्म के तत्काल बाद

दौड़ने लगते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, खरगोश, चूहा आदि प्राणियों की गणना इस वर्ग में की जाती है।

जन्म के दूसरे प्रकार का नाम है उपपात। इससे उत्पन्न होने वाले जीव उपपातज कहलाते हैं। इस वर्ग में देव और नारक आते हैं। इनका जन्म नियत स्थान में होता है। जन्म के बाद बहुत कम समय (अन्तर्मुहूर्त) में ही इनके शरीर का पूरा निर्माण हो जाता है। देवों का उत्पत्ति-स्थल शय्या है और नारकों का कुम्भी।

जो जीव स्त्री और पुरुष या नर और मादा के संयोग बिना ही लोकाकाश में बिखरे हुए परमाणुओं और विशिष्ट पर्यावरण के योग से स्वतः उत्पन्न होते हैं, वे संमूर्च्छिम कहलाते हैं। देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंचों के अतिरिक्त सभी प्राणी संमूर्च्छिम जन्म प्राप्त करते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीव निश्चित रूप से संमूर्च्छिम होते हैं। पंचेन्द्रिय में कुछ तिर्यंच संमूर्च्छिम होते हैं। मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य भी संमूर्च्छिम कहलाते हैं। इनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना-सा होता है और ये जन्म के तत्काल बाद अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। संसार के सभी प्राणी इन तीन प्रकारों से जन्म धारण करते हैं।

१८. मरण के तीन प्रकार हैं –

१. बालमरण २. पण्डित मरण ३. बाल-पण्डित मरण

जन्म और मरण – ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। फिर भी ये साथ-साथ रहते हैं। जिस प्राणी का जन्म होता है, उसी की मृत्यु होती है। मृत्यु के बिना जन्म का अस्तित्व नहीं और जन्म के बिना मृत्यु का भी आधार नहीं है। सतरहवें बोल में जन्म के तीन प्रकार बताए गए हैं। इस बोल में मरण के प्रकारों का उल्लेख है।

बाल मरण

असंयमी का मरण बाल मरण कहलाता है। यह पहले से चौथे गुणस्थान तक के जीवों के होता है। इसका सम्बन्ध एक ओर मिथ्यात्व एवं अज्ञान से है तथा दूसरी ओर अव्रत से है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व चला जाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। फिर भी वहां व्रत नहीं होता, संयम नहीं होता। इस दृष्टि से चौथे गुणस्थान तक बाल मरण माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में किसी जीव की मृत्यु नहीं होती।

पंडित मरण

पंडित मरण पूर्ण संयमी व्यक्ति के होता है। यह छठे से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थान में साधु के अतिरिक्त कोई जीव नहीं हो सकता। साधु सावद्ययोगविरति रूप संयम की आराधना करता है। संयम की क्षमता के कारण ही इन गुणस्थानों में होने वाले मरण को पण्डित मरण कहा जाता है। तीसरे की भांति बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में भी मृत्यु नहीं होती। इन तीन गुण-स्थानों को अमर माना गया है।

बाल-पंडित मरण

संयमासंयमी के मरण को बाल-पंडित मरण कहा जाता है। इसमें बाल और पंडित – इन दो शब्दों का प्रयोग असंयम और संयम को एक साथ बताने के लिए है। यह पाँचवें गुणस्थान में होता है। पाँचवें गुणस्थान का अधिकारी श्रावक है। उसके जितनी सीमा तक असंयम है, उसकी अपेक्षा बाल मरण है और जितना संयम रहता है, उसकी अपेक्षा से पंडित मरण है। असंयम और संयम की एक साथ विवक्षा होने के कारण इस मरण का नाम बाल-पंडित मरण है।

१६. अन्तराल गति के दो प्रकार –

१. ऋजु २. वक्र

एक योनि या जन्म से दूसरी योनि या जन्म तक की जो यात्रा होती है, गति होती है, उसे अन्तराल गति कहा जाता है। यह दो जन्मों के बीच की गति है। प्रत्येक संसारी प्राणी को यह गति करनी ही होती है।

ऋजु का अर्थ है सीधा। जिस गति में कोई मोड़ न हो, घुमाव न हो, वह ऋजुगति है। इस गति में काल का न्यूनतम विभाग एक समय लगता है। काल का इससे छोटा विभाग कोई है नहीं, अन्यथा ऋजुगति की पहुंच वहां तक हो जाती। इस गति से जीव लोकाकाश के इस छोर से उस छोर तक पहुंच जाता है। इतने कम समय में इतने विस्तृत क्षेत्र का अवगाहन आश्चर्य जैसा प्रतीत होता है। किन्तु विज्ञान ने स्पेस और टाइम के संकोच एवं विकोच का जो सिद्धान्त दिया है, वह जैनदर्शन के कई तथ्यों के सम्बन्ध में संगति बिठाने वाला है। अन्तराल गति में जीव की यात्रा का प्रसंग व्यवहार्य हो या नहीं, वैज्ञानिक अवश्य है।

वक्र का अर्थ है टेढ़ा। जिस गति में एक, दो या तीन मोड़ हों, वह वक्र गति कहलाती है। जिस स्थान में जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, वहां से विषम श्रेणी के आकाश प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला जीव वक्र गति करता है।

ऋजुगति करने वाला जीव एक समय में अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है, इसलिए वह अनाहारक नहीं होता। कोई भी जीव पूर्व शरीर को छोड़ता है तो वह अन्तिम समय तक आहार लेता है। वहां से अगले भव में पहुंचने के प्रथम समय में ही आहार ले लेता है, इसलिए वह अनाहारक नहीं हो सकता। वक्रगति वाला जीव एक या दो घुमाव लेकर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुंचता है। घुमाव लेने से अन्तराल गति में समय अधिक लग जाता है। वहां किसी प्रकार का आहार उपलब्ध न होने से जीव अनाहारक रहता है। एक भव से दूसरे भव में जाने वाला जीव स्थूल शरीर को छोड़कर जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। इसलिए वह सशरीरी कहलाता है। पांच शरीरों में तैजस और कार्मण – ये दो शरीर सूक्ष्म है और तब तक जीव के साथ रहते है, जब तक वह मुक्त नहीं हो जाता।

२०. छद्मस्थ के दो प्रकार हैं –
१. सकषायी (सराग) २. अकषायी (वीतराग)

जब तक व्यक्ति को केवलज्ञान उपलब्ध नहीं होता, तब तक वह छद्मस्थ रहता है। '**अकेवली छद्मस्थः**' यह परिभाषा भी उक्त तथ्य को ही पुष्ट करती है। यहां छद्म शब्द का अर्थ है घाती कर्मों का उदय। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय – ये चार कर्म घाती हैं। इन कर्मों की विद्यमानता में किसी को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सराग और वीतराग शब्द सकषायी और अकषायी के ही पर्यायवाचक शब्द हैं।

सकषायी छद्मस्थ पहले से दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक रहने वाला जीव अकषायी होता है। किन्तु यहां छद्मस्थ अकषायी की विवक्षा की गई है। यह केवल ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में ही होता है।

कषाय शब्द से राग और द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ – इन चारों का ग्रहण किया गया है।

२१. वीतराग के दो प्रकार हैं –
१. छद्मस्थ वीतराग २. केवली वीतराग

वीतरागता का अर्थ है – राग और द्वेष का उपशम या क्षय। नौवें गुणस्थान में क्रोध, मान और माया का उपशम या क्षय हो जाता है। दसवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ बाकी रहता है। इसलिए उस गुणस्थान में रहने वाला जीव वीतराग नहीं होता। दसवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान में जाने वाला जीव उपशम श्रेणी में स्थित होता है। वह सूक्ष्म लोभरूप मोह का उपशमन करता है। जो जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है, वह मोह कर्म का क्षय कर ग्यारहवें गुणस्थान को लांघकर बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। इस गुणस्थान में राग-द्वेष नहीं रहते, फिर भी छद्मस्थता बनी रहती है। जब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का उदय रहता है, तब तक केवलज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के वीतराग छद्मस्थ वीतराग कहलाते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय आदि तीनों घात्य कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। केवलदर्शन केवलज्ञान का सहचारी है। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद कभी जाते नहीं। ये सिद्धावस्था में भी साथ रहते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के वीतराग केवली वीतराग कहलाते हैं।

२२. बंध के दो प्रकार हैं –
१. ईर्यापथिक २. साम्परायिक

कर्म का बन्ध तेरहवें गुण स्थान तक निरन्तर होता है। जो बन्ध सकषायी या सराग के होता है, उसे साम्परायिक बन्ध कहा जाता है। अकषायी या वीतराग के जो बन्ध होता है, उसे ईर्यापथिक बन्ध कहा जाता है। ईर्यापथ का अर्थ है – योग। योग अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। कषाय रहित योग से जो बन्ध होता है, वही ईर्यापथिक बन्ध कहलाता है। यह ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानों में आसक्ति या कषाय का अत्यन्त अभाव होने पर भी योगों की चंचलता के कारण बन्धन होता है। कषायजनित स्निग्धता के अभाव में यह बन्धन टिकाऊ नहीं होता। जैसे – रूखी दीवार पर मिट्टी फेंकी जाए तो वह एक बार वहां चिपकती है, किन्तु तत्काल झड़कर अलग हो जाती है। इसी प्रकार वीतराग के कर्म पुद्गलों का स्पर्श मात्र होता है। यह बन्ध दो समय की स्थिति वाला होता है। जिस आत्मा में

कषाय की चिकनाहट रहती है, उसके कर्म का बन्धन टिकाऊ होता है। चिकनाहट जितनी अधिक होगी, बन्धन की दृढ़ता भी उतनी ही अधिक होगी। यह बन्ध संसार के उन सब प्राणियों के होता है, जो सकषायी होते हैं।

२३. संहनन के छह प्रकार हैं –

१. वज्रऋषभनाराच	**४. अर्धनाराच**
२. ऋषभनाराच	**५. कीलिका**
३. नाराच	**६. सेवार्त**

संहनन का अर्थ है शरीर में होने वाली अस्थि-संरचना। देव और नरक गति के जीव वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। उस शरीर में हाड, मांस आदि सातों ही धातुएं नहीं होती, इसलिए वहां अस्थि-संरचना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है। यह शरीर हाड, मांस आदि धातुओं से निर्मित होता है। अत: उक्त छहों संहनन इसी शरीर में प्राप्त होते हैं। अस्थि-संरचना का क्रमिक विकास इस प्रकार होता हैं–

कुछ शरीरों में अस्थियां परस्पर जुड़ी हुई नहीं होतीं, आमने-सामने होती हैं। केवल बाहर से शिरा, स्नायु, मांस आदि लिपट जाने के कारण संघटित होती है। इस प्रकार की अस्थि-संरचना को 'सेवार्त' कहा गया है। यह सबसे दुर्बल अस्थि-संरचना है। धवला में इसकी तुलना परस्पर असंप्राप्त और शिराबद्ध सर्प की अस्थियों से की गई है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें अस्थियों के छोर परस्पर जुड़े हुए होते हैं–एक-दूसरे का स्पर्श किये होते हैं, उसे 'कीलिका' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें नाराच (मर्कटबन्ध) आधा होता है–अस्थियों के छोर परस्पर एक ओर से गुंथे हुए होते हैं, उसे 'अर्धनाराच' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें नाराच (मर्कटबन्ध) पूरा होता है–अस्थियां दोनों ओर से गुंथी हुई होती है, उसे 'नाराच' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें परस्पर गुंथे हुए दोनों अस्थियों के छोरों पर तीसरी अस्थि का परिवेष्टन होता है, उसे 'ऋषभनाराच' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें उक्त तीनों अस्थियों को भेदकर अस्थिकील (बोल्ट) आर-पार कसा हुआ होता है। उसे 'वज्रऋषभनाराच' कहा गया है। वह सर्वोत्कृष्ट शक्तिशाली संहनन होता है।

इस छठी अस्थि-रचना में तीन शब्द प्रयुक्त हैं–वज्र, ऋषभ और नाराच। अस्थिकील के लिए वज्र, परिवेष्टन अस्थि के लिए ऋषभ और परस्पर गुंथी हुई अस्थि के लिए नाराच शब्द का प्रयोग किया गया है।

अस्थि-संरचना का साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। शुक्ल ध्यान की साधना के लिए और मोक्ष-गमन के लिए छठे संहनन का होना जरूरी है। शलाका पुरुषों (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) के भी छठे प्रकार की अस्थि–रचना होती है। उत्कृष्ट साधना की भांति उत्कृष्ट क्रूर कर्म भी इसी अस्थि–रचना वाले प्राणी करते हैं। एक ओर मोक्ष दूसरी ओर सातवीं नरक भूमि। एक ही माध्यम से ये दो परिणतियां पुरुषार्थ के सम्यक् और असम्यक् प्रयोग पर निर्भर करती हैं।

चिकित्सा शास्त्र में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अस्थि–संरचना पर बहुत ध्यान दिया गया है। स्वास्थ्य सम्पन्न व्यक्ति के लिए एक शब्द है स्वस्थ। स्वस्थ शब्द का एक अर्थ है अपने में रहना। इसका दूसरा अर्थ है–जिसकी अस्थियां शोभन हों, मजवूत हों, वह स्वस्थ होता है। स्वस्थ के सन्दर्भ में यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। संहनन की पूरी जानकारी के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैक्रिय शरीर में अस्थियां नहीं होतीं। इस दृष्टि से नारक और देवों में किसी प्रकार का संहनन नहीं होता। सिद्ध के शरीर ही नहीं होता। इसलिए वहां संहनन होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यंच और असंज्ञी मनुष्य में एक सेवार्त संहनन होता है। संज्ञी तिर्यंच और संज्ञी मनुष्य में छहों संहनन पाए जाते हैं। यौगलिक मनुष्य और तिरेसठ शलाका पुरुषों में एक मात्र वज्रऋषभनाराच संहनन होता है।

२४. संस्थान के छह प्रकार हैं –

१. समचतुरस्र	**४. कुब्ज**
२. न्यग्रोधपरिमण्डल	**५. वामन**
३. सादि	**६. हुण्डक**

संस्थान का अर्थ है—आकृति। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ है अवयवों की रचना। किस शरीर के अवयवों की रचना कैसी है, इसकी जानकारी संस्थानों के स्वरूप-बोध से की जा सकती है। सात नारकी, पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यंच और असन्नी मनुष्य में एक हुण्डक संस्थान होता है। देव, यौगलिक मनुष्य तथा तिरेसठ शलाका-पुरुषों का संस्थान समचतुरस्र होता है। संज्ञी मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच में छहों में से कोई भी संस्थान हो सकता है। सिद्ध आत्मा में कोई संस्थान नहीं होता।

समचतुरस्र

अस्र का अर्थ है कोण। जिस शरीर के चारों कोण समान हो, जिस शरीर के सभी अवयव अपने-अपने प्रमाण के अनुसार हों और जिस शरीर-संरचना में ऊर्ध्व, अध: एवं मध्य भाग सम हों, वह संस्थान समचतुरस्र होता है।

न्यग्रोधपरिमण्डल

न्यग्रोध का अर्थ है बड़ का वृक्ष। जिस शरीर की संरचना में वटवृक्ष की भांति नाभि से ऊपर का भाग बड़ा और नीचे का भाग छोटा हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल कहा जाता है।

सादि

जिस शरीर में ऊपर का भाग छोटा और नीचे का भाग बड़ा हो, वह सादि संस्थान कहलाता है। इसका आकार वल्मीक की तरह होता है।

कुब्ज

जिस शरीर की संरचना में पीठ पर पुद्‌गलों का अधिक संचय हो, वह कुब्ज संस्थान है।

वामन

जिस शरीर के सभी अंग-उपांग छोटे हो, वह वामन संस्थान है।

हुण्डक

जिस शरीर की रचना में कोई अवयव प्रमाणोपेत नहीं होता, जिसके सभी अंग-उपांग हुण्ड की तरह संस्थित हों, वह हुण्डक संस्थान है।

२५. समुद्घात के सात प्रकार हैं –

१. वेदना
२. कषाय
३. मारणान्तिक
४. वैक्रिय
५. तैजस
६. आहारक
७. केवली

* सामूहिक रूप से बलपूर्वक आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालने या उनके इधर-उधर प्रक्षेपण करने को समुद्घात कहा जाता है।

* वेदना आदि निमित्तों से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।

* कर्मों की स्थिति और अनुभाग के समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते है।

* मूल शरीर को न छोड़ कर तैजस और कार्मण शरीर के साथ जीव-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।

समुद्घात की ये परिभाषाएं श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों परंपराओं में प्रचलित है। सात समुद्घातों मे प्रथम छह समुद्घात छद्मस्थ के होते है और अन्तिम केवली समुद्घात केवलियों के ही होता है।

वेदनीय समुद्घात

वात, पित्त आदि विकार-जनित रोग या विषपान आदि की तीव्र वेदना से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना वेदनीय समुद्घात है।

कषाय समुद्घात

कषाय की तीव्रता से आत्म-प्रदेशों का अपने शरीर से तिगुने प्रमाण में बाहर निकलना कषायसमुद्घात है।

मारणान्तिक समुद्घात

मृत्यु के समय आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकल आगामी उत्पत्तिस्थान तक फैलना मारणान्तिक समुद्घात है।

वैक्रिय समुद्घात

वैक्रिय लब्धि के द्वारा किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न करने के लिए मूल शरीर का त्याग न कर आत्मप्रदेशों का बाहर जाना और नाना रूपों की विक्रिया करना वैक्रिय समुद्घात है।

तैजस समुद्घात

किसी व्यक्ति पर अनुग्रह या निग्रह करने के लिए तैजस शरीर का विस्फोट करना तैजस समुद्घात है। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता है।

आहारक समुद्घात

आहारक लब्धि से संपन्न मुनि अपना संदेह दूर करने के लिए अपने आत्मप्रदेशों से एक पुतले का निर्माण करते हैं और उसे सर्वज्ञ के पास भेजते हैं। वह उनके पास जाकर उनसे संदेह की निवृत्ति कर पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। यह क्रिया इतनी शीघ्र और अदृश्य होती है कि दूसरों को इसका पता भी नहीं चल सकता। यह आहारक समुद्घात है। इसे आहारक लब्धि भी कहा जाता है।

केवली समुद्घात

जब आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिकों से वेदनीय कर्म की स्थिति और दलिक अधिक होते हैं, तब उनका समीकरण करने के लिए सहज रूप से केवली समुद्घात होता है। इसमें जीव के प्रदेश दण्ड, कपाट, मन्थन और अन्तरावगाह कर संपूर्ण लोकाकाश का स्पर्श कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में केवल चार समय लगते हैं। अगले चार समयों में क्रमशः वे आत्मप्रदेश सिमटते हुए पुनः शरीर में स्थित हो जाते हैं। यह समुद्घात तब होता है, जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त जितना ही शेष रहता है।

सभी समुद्घात में आत्म प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं और संबंधित कर्म-पुद्गलों का परिशाटन कर पुनः देहस्थित हो जाते हैं। केवली समुद्घात में आत्मा सम्पूर्ण लोकव्यापी हो जाती है।

(खण्ड : ३)

१. तत्व के नौ प्रकार हैं –

१. जीव	४. पाप	७. निर्जरा
२. अजीव	५. आश्रव	८. बन्ध
३. पुण्य	६. संवर	९. मोक्ष

विश्व में जितने दर्शन हैं, उन सबकी अलग परम्पराएं हैं, मान्यताएं हैं। तत्त्ववाद भी सबका अपना-अपना है। भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन की अपनी परम्परा है, अपना तत्त्ववाद है। तत्त्व का अर्थ है पारमार्थिक वस्तु या अस्तित्ववान् पदार्थ। मुख्य रूप से वे दो हैं – जीव और अजीव। संसार के दृश्य-अदृश्य सभी पदार्थ इन दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाते हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ बाकी नहीं बचता जो इनमें अन्तर्गर्भित न हो।

जैनदर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हैं – जागतिक और आत्मिक। जहां जागतिक विवेचन की प्रमुखता है और आत्मिक तत्त्व-साधनापक्ष गौण है, वहां छह द्रव्यों की चर्चा है। जहां आत्मिक तत्त्व प्रमुख है और जगत्-रचना का पक्ष गौण है, वहां नौ तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं – जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

जीव – जिसमें चेतना हो, सुख-दुःख का संवेदन हो, वह जीव है।

अजीव – जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।

पुण्य – शुभ रूप में उदय आने वाले कर्म-पुद्‌गल पुण्य हैं।

पाप – अशुभ रूप में उदय आने वाले कर्म-पुद्‌गल पाप हैं।

आश्रव – कर्म-पुद्‌गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव है।

संवर – कर्म-पुद्‌गलों का निरोध करने वाली आत्मप्रवृत्ति संवर है।

निर्जरा – तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

बन्ध – आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम बन्ध है।

मोक्ष – कर्म-मुक्त आत्मा अथवा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा मोक्ष है।

उपर्युक्त नौ तत्त्वों में जीव और अजीव मूल तत्त्व हैं। शेष सात तत्त्व जीव और अजीव की अवस्थाएं हैं। पुण्य, पाप और बन्ध पौद्गलिक तत्त्व हैं, इसलिए अजीव की अवस्थाएं हैं। आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव की परिणतियां है, इसलिए जीव हैं।

२. जीव के चौदह प्रकार हैं –

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
२. बादर एकेन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
३. द्वीन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
४. त्रीन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
५. चतुरिन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त
७. संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद – अपर्याप्त पर्याप्त

प्रथम वर्ग में जीव के एक, दो, तीन से लेकर छह तक के प्रकारों को समझाया जा चुका है। तीसरे वर्ग में पुनः जीव के भेदों को चर्चा अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है। यहां प्रथम बोल में नौ तत्त्वों का नामोल्लेख हुआ है। उन तत्त्वों को विस्तार से समझने के लिए प्रत्येक तत्त्व के कई-कई भेद बतलाये गये हैं। उसी शृंखला में जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं। इन चौदह भेदों के वर्गीकरण का आधार है इन्द्रियां, मन और पर्याप्तियां। एकेन्द्रिय के दो भेद किए गए हैं – सूक्ष्म और बादर। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद किए गए हैं – संज्ञी और असंज्ञी।

सूक्ष्म और बादर भेद की कल्पना केवल एक इन्द्रिय वाले जीवों को ध्यान में रखकर ही की गयी है। शेष सभी जीव बादर ही होते हैं। इसी प्रकार संज्ञी-असंज्ञी

की कल्पना में पंचेन्द्रिय जीवों को केन्द्र में रखा गया है। शेष सभी जीव असंज्ञी होते हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। बादर जीव सूक्ष्म जीवों की तुलना में बहुत कम हैं।

सूक्ष्म-बादर, संज्ञी-असंज्ञी आदि सभी जीव अपने उत्पत्ति-स्थान पर उत्पन्न होते समय अपर्याप्त होते हैं। जीव को जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी हैं, जब तक उनका निर्माण नहीं होता है, तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। उन पर्याप्तियों का पूरा निर्माण होने से ही वह जीव पर्याप्त होता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय – इस प्रकार सात विकल्पों के अपर्याप्त, पर्याप्त के भेद से चौदह भेद हो जाते हैं।

३. अजीव के चौदह प्रकार हैं –

धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं –

१. स्कन्ध   ३. प्रदेश
२. देश

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं –

४. स्कन्ध   ६. प्रदेश
५, देश

आकाशास्तिकाय के तीन भेद हैं –

७. स्कन्ध   ९. प्रदेश
८. देश

काल का एक भेद हैं –

१०. काल

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद हैं –

११. स्कन्ध   १३. प्रदेश
१२. देश   १४. परमाणु

अजीव जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इस अजीव तत्त्व से बंधे रहने के कारण ही जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए साधना की दृष्टि से जीव की तरह अजीव को भी समझना जरूरी है।

अजीव के दो और पांच भेदों की चर्चा दूसरे वर्ग में की जा चुकी है। प्रस्तुत बोल में उन्हीं भेदों की विवक्षा से अजीव तत्त्व के चौदह भेद बतलाये गये हैं। मूलत: अजीव के पांच भेद है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल और पुद्‌गलास्तिकाय। इनका विस्तार किया जाए तो भेदों की संख्या बढ़ भी सकती है।

धर्मस्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन भेद हैं—स्कन्ध, देश और प्रदेश। काल का कोई भेद नहीं होता। वह केवल काल तत्त्व ही है। पुद्‌गल के चार भेद हैं—स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध—अखण्ड वस्तु को अथवा परमाणुओं के एकीभाव को स्कंध कहा जाता है, जैसे—वस्त्र।

देश—वस्तु के बुद्धि कल्पित एक हिस्से को देश कहा जाता है, जैसे—वस्त्र का कोई भाग।

प्रदेश—वस्तु के संलग्न उसके अविभाज्य हिस्से को प्रदेश कहा जाता है।

परमाणु—पुद्‌गल की अविभाज्य इकाई को परमाणु कहा जाता है।

स्कंध, देश और प्रदेश धर्मास्तिकाय आदि के होते हैं। परमाणु केवल पुद्‌गल के ही होता है।

परमाणु द्रव्य रूप से अविभाज्य और निरवयव होता है। उसका कोई खण्ड नहीं होता। फिर भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—पुद्‌गल के ये चारों लक्षण उसमें भी होते हैं। इनके आधार पर परमाणु का स्वरूप बदलता रहता है। परमाणु का वर्णांतर, गंधांतर, रसांतर और स्पर्शांतर होना सम्मत माना गया है। इस दृष्टि से इसे शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा जा सकता है। दो आदि परमाणुओं का एकीभाव होने से स्कन्ध हो जाता है, जैसे—द्विप्रदेशी स्कन्ध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध, संख्येयप्रदेशी स्कन्ध, असंख्येयप्रदेशी स्कन्ध, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध।

४. पुण्य के नौ प्रकार हैं –

१. अन्न	४. शयन	७. वचन
२. पान	५. वस्त्र	८. काय
३. लयन	६. मन	९. नमस्कार

नौ तत्त्वों में जीव और अजीव के बाद तीसरा स्थान है पुण्य का। चौथे बोल में पुण्य के नौ प्रकार बतलाए गए हैं।

'**शुभं कर्म पुण्यम्।**' इस परिभाषा के अनुसार सात वेदनीय आदि शुभ कर्मों को पुण्य कहा जाता है। किन्तु कारण में कार्य का उपचार करने से जिन-जिन निमित्तों से शुभ कर्म का बंध होता है, उन्हें भी पुण्य कह दिया जाता है। पुण्य के नौ प्रकार इसी विवक्षा के आधार पर बतलाए गए हैं।

अन्न पुण्य

संयमी पुरुष को दिए जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म अन्न पुण्य है।

पान पुण्य

संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पानक-जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म पान पुण्य है।

लयन पुण्य

संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म लयन पुण्य है।

शयन पुण्य

संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म शयन पुण्य है।

वस्त्र पुण्य

संयमी पुरुष को दिये जाने वाते वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म वस्त्र पुण्य है।

मन पुण्य

मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म मन पुण्य है।

वचन पुण्य

वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म वचन पुण्य है।

काय पुण्य

शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म काय पुण्य है।

नमस्कार पुण्य

पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म नमस्कार पुण्य है।

पुण्य का बन्ध सत्प्रवृत्ति से होता है। सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है। जो मोक्ष का उपाय है, वह धर्म है। इसका फलित यह हुआ – जहां धर्म है, वहां पुण्य का बन्ध है। धार्मिक प्रवृत्ति के साथ ही पुण्य का बन्ध होता है। जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं, उसके साथ पुण्य का अनुबन्ध नहीं है। पुण्य-प्राप्ति के लिए धार्मिक प्रवृत्ति करना वर्जित है। पर पुण्य होगा तो धर्म के साथ ही होगा। पुण्य करना नहीं पड़ेगा, वह सहज रूप में होगा। उसके लिए स्वतन्त्र रूप से किसी प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार अनाज के साथ भूसा होता है, उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य होता है। भूसे की स्वतन्त्र खेती या उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार पुण्य का स्वतन्त्र बंध नहीं होता।

५. पाप के अठारह प्रकार –

१. प्राणातिपात	१०. राग
२. मृषावाद	११. द्वेष
३. अदत्तादान	१२. कलह
४. मैथुन	१३. अभ्याख्यान
५. परिग्रह	१४. पैशुन्य
६. क्रोध	१५. परपरिवाद
७. मान	१६. रति-अरति
८. माया	१७, माया-मृषा
९. लोभ	१८. मिथ्यादर्शनशल्य

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व है पाप। पुण्य शुभ कर्म है। पाप अशुभ कर्म है। पुण्य शुभ या सत्प्रवृत्ति के द्वारा होता है। इसी प्रकार पाप अशुभ या असत्प्रवृत्ति के द्वारा होता है। जिस शुभ प्रवृत्ति के द्वारा शुभ कर्म (पुण्य) का बन्धन होता है, उपचार से उसी को पुण्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा अशुभ कर्म (पाप) का बन्धन होता है, उपचार से उस अशुभ प्रवृत्ति को पाप कह दिया जाता है। पापजनक प्रवृत्तियों के वर्गीकरण में प्रमुख रूप से पाप के अठारह प्रकार बतलाए गए हैं –

१. प्राणातिपात

प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

२. मृषावाद

असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

३. अदत्तादान

अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

४. मैथुन

अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पाप कर्म।

५, परिग्रह

वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

६. क्रोध

उत्तेजना से बंधने वाला पाप कर्म।

७. मान

अभिमान से बंधने वाला पाप कर्म।

८. माया

धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से बंधने वाला पाप कर्म।

९. लोभ

लालसा से बंधने वाला पाप कर्म।

१०. राग

रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

११. द्वेष

द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१२. कलह

झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१३. अभ्याख्यान

मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१४. पैशुन्य

चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१५. परपरिवाद

पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१६. रति-अरति

असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पाप कर्म।

१७. माया-मृषा

छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१८. मिथ्यादर्शनशल्य

विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पाप कर्म।

इन अठारह पापों के अतिरिक्त और भी ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जिनके द्वारा पाप का बन्धन होता है। पर प्रस्तुत संदर्भ में अठारह पापों की ही चर्चा है। इस प्रकार की जो जन्य प्रवृत्तियां हैं, उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो सकता है। अठारह पापों में सतरहवां पाप है—माया-मृषा। माया एक पाप है, मृषावाद भी एक पाप है। इन दोनों को एक साथ रखने का अभिप्राय यह भी है कि एक से अधिक पाप एक साथ हो सकते हैं।

६. आश्रव के पांच प्रकार हैं –

१. मिथ्यात्व ४. कषाय
२. अव्रत ५. योग
३. प्रमाद

जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजा होता है, तालाब के नाला होता है, नौका के छेद होता है, उसी प्रकार जीव के आश्रव होता है। आश्रव जीव का परिणाम है, इसलिए वह जीव है। आश्रव कर्म-बंध का हेतु है, इस दृष्टि से मोक्ष का बाधक है। शुभ योग से कर्मों की निर्जरा होती है, इस दृष्टि से वह मोक्ष का साधक है। कर्म-बंधन के जितने द्वार है – निमित्त हैं, वे सब आश्रव है। प्रमुख रूप से उसके पांच भेद किए जाते हैं। आश्रव के बीस भेदों का उल्लेख भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। ये भेद विवक्षाकृत हैं। इस वर्गीकरण में पांच मूल के भेद हैं। शेष पन्द्रह योग आश्रव के अवांतर भेद हैं। उन सबका योग में समाहार हो जाता है। इसलिए प्रस्तुत बोल में पांच ही आश्रवों का ग्रहण किया गया है।

मिथ्यात्व आश्रव

विपरीत तत्त्वश्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। जीव की दृष्टि को विकृत करने वाले मोह-परमाणुओं के उदय से अयथार्थ में यथार्थ और यथार्थ में अयथार्थ की जो प्रतीति होती है, वह मिथ्यात्व आश्रव है। इसके आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि पांच भेद है, जिनकी चर्चा इसी कृति के प्रथम वर्ग के उन्नीसवें बोल में की जा चुकी है।

अव्रत आश्रव

अत्याग भाव का नाम अव्रत है। इसका संबंध चारित्र मोह के परमाणुओं से है। ये परमाणु जब तक सक्रिय रहते है, अंश रूप में या संपूर्ण रूप में हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों के त्यागने का मनोभाव नहीं बनता। अव्रत आश्रव देशव्रत और सर्वव्रत दोनों का बाधक है।

प्रमाद आश्रव

अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है। इसका संबंध भी मोह-कर्म के परमाणुओं से है।

कषाय आश्रव

राग-द्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। चारित्रमोह के परमाणुओं का उदयकाल इसका अस्तित्वकाल है। यह वीतराग-चारित्र की उपलब्धि में बाधक है।

योग आश्रव

योग का अर्थ है प्रवृत्ति। शरीर, भाषा और मन की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्म-परिणति का नाम है योगआश्रव। जब तक प्रवृत्ति है, तब तक बन्धन है। अशुभ योग से अशुभ कर्म का बन्ध होता है और शुभ योग से शुभ कर्म का। योग का सर्वथा निरोध होने से अयोग संवर अथवा शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है।

७. संवर के पांच प्रकार हैं –

१. सम्यक्त्व **४. अकषाय**

२. व्रत **५. अयोग**

३. अप्रमाद

मोक्ष के बाधक ओर साधक तत्त्वों की चर्चा में आश्रव को बाधक माना गया है और संवर एवं निर्जरा को साधक। संवर आत्मा की वह परिणति है, जिससे आश्रव का निरोध होता है। इसलिए यह आश्रव का प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिपक्षी तत्त्व है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो संवर का अर्थ है – आत्मप्रदेशों का स्थिरीभूत होना। यह मोक्ष-मार्ग की आराधना का प्रकृष्ट हेतु है और आत्म-संयम करने से प्राप्त होता है। संवर के पांच भेद हैं –

सम्यक्त्व संवर

यथार्थ तत्त्वश्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों के बारे में सही श्रद्धा का होना और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना-सम्यक्त्व संवर का स्वरूप है। इसे मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी माना गया है।

व्रत संवर

यह अव्रत का प्रतिपक्षी तत्व है। इसके दो रूप है – देशव्रत और सर्वव्रत। सपाप प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत संवर है और इनका जीवन-भर के लिए सम्पूर्ण रूप से त्याग सर्वव्रत संवर है।

अप्रमाद संवर

अध्यात्म के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद है। इस स्थिति में व्यक्ति कोई पापकारी प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

अकषाय संवर

राग-द्वेषात्मक उत्ताप जितना कम होता है, उतना ही कषाय कम होता है। कषाय को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है। यह कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी है।

अयोग संवर

योग का अर्थ है शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का निरोध करना अयोग संवर है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है–शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध व्रत संवर है और शुभ प्रवृत्ति का संपूर्ण निरोध अयोग संवर है। जब तक सम्पूर्ण निरोध नहीं होता है, उसे अयोग संवर का अंश कहा जाता है। अयोग संवर की स्थिति में पहुंचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

वैसे संवर के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं, पर वे अलग-अलग विवक्षाएं हैं। संवर के बीस भेद भी काफी प्रसिद्ध हैं। सामान्यत: सभी भेदों का समावेश इन पांच भेदों में हो जाता है।

८. निर्जरा के बारह प्रकार हैं –

बाह्य-६

१. अनशन	४. रसपरित्याग
२. ऊनोदरी	५. कायक्लेश
३. भिक्षाचरी	६. प्रतिसंलीनता

आभ्यन्तर-६

७. प्रायश्चित्त	१०. स्वाध्याय
८. विनय	११. ध्यान
९. वैयावृत्य	१२. व्युत्सर्ग

नौ तत्त्वों में सातवां तत्त्व है निर्जरा। जैन सिद्धान्त दीपिका में निर्जरा तत्त्व को परिभाषित करने वाले दो सूत्र हैं–

'तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा'

'उपचारात्तपोऽपि'

तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके बारह भेद हैं। इस दृष्टि से तप के भी बारह भेद हैं। किन्तु मुख्य रूप से उसे दो भागों में विभक्त किया गया है-बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

जो तप बाह्य रूप से दिखाई देता है, विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, वह बाह्य तप है। इसके छह प्रकार हैं–अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता। इन छहों में सबसे प्रथम स्थान मिला है खाद्यसंयम को। बाह्य तप के चार भेद इसी परिप्रेक्ष्य में किए गए हैं। साधना का विकास करने के लिए यह आवश्यक भी है। जो व्यक्ति भोजन का भी संयम नहीं कर सकता, वह संयम और तप की अग्रिम भूमिकाओं पर आरोहण करने में सफल कैसे होगा? इस दृष्टि से निर्जरा अथवा तप का प्रारम्भ यहीं से माना गया है।

अनशन

अनशन का अर्थ है आहार का परिहार। उपवास और उससे आगे जितनी तपस्या की जाती है, वह इसके अन्तर्गत है। अध्यात्म की दृष्टि से आजीवन आहार-त्याग किया जाता है, उसे 'संथारा' कहा जाता है। वह भी अनशन ही कहलाता है।

ऊनोदरी

ऊन यानी कमी। सामान्यत: खुराक में कमी करने का नाम ऊनोदरी है। इसमें भोजन और पानी दोनों सम्मिलित हैं। वैसे वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की अल्पता भी ऊनोदरी तप में अन्तर्गर्भित है। उपवास से छोटी तपस्या-नवकारसी, प्रहर, एकाशन आदि का भी इसी में समावेश होता है।

भिक्षाचरी

भिक्षाचरी का दूसरा नाम है 'वृत्तिसंक्षेप'। इसमे विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपने आपको साधने का अभ्यास किया जाता है।

रसपरित्याग

दूध, दही, घी आदि विकृतियों (विगय) के वर्जन का नाम रसपरित्याग है।

कायक्लेश

अनेक प्रकार के आसनों द्वारा शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। इससे एक ही आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास सध जाता है।

प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिसंहरण करने या उसे अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है।

बाह्य तप अथवा निर्जरा के उपर्युक्त भेदों में ध्यान, व्युत्सर्ग आदि होते ही नहीं, यह बात नहीं है। प्रवृत्ति की प्रधानता और गौणता के आधार पर यह वर्गीकरण है। वैसे तो तप के किसी भी प्रकार में जन्य तपस्याएं भी की जा सकती हैं।

बाह्य तप के छह भेदों की चर्चा के बाद आभ्यन्तर तप की चर्चा है। जो तप अन्त:शरीर यानी सूक्ष्म-शरीर को अधिक तपाता है, जिससे कर्म-शरीर क्षीण होता है, वह आभ्यन्तर तप है। इस तप का स्थूल शरीर पर विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, भीतर ही भीतर कर्म-शरीर (संस्कार शरीर) में विस्फोट करने की प्रक्रिया चलती रहती है। मोक्ष-साधना का अन्तरंग कारण होने से इस तप को आभ्यन्तर तप कहा जाता है। इसके भी छह प्रकार हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त

दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त के अनेक प्रकार हैं। वही व्यक्ति प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, जो ऋजु होता है और जिसके सामने अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का लक्ष्य रहता है।

विनय

विनय के दो अर्थ हैं–कर्मों का अपनयन और बड़ों का बहुमान। यह प्रवृत्यात्मक विनय है। इसका निवृत्तिपरक अर्थ है–आशातना न करना। आशातना अथात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

वैयावृत्त्य

सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्त्य कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवा-भावना और कर्तव्य-भावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने से ही वैयावृत्त्य किया जा सकता है।

स्वाध्याय

शास्त्रों के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आ सकता।

ध्यान

किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने अथवा मन, वचन और काया के निरोध को ध्यान कहा जाता है। ध्याता और ध्येय के बीच पूर्ण रूप से तादात्म्य घटित होने की स्थिति में ही ध्यान हो पाता है अन्यथा नहीं।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग का अर्थ है विसर्जन करना, छोड़ना। यह अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है, किसी के सहयोग का हो सकता है और भोजन-पानी का भी हो सकता है।

जिस प्रकार बाह्य तप करते समय आभ्यन्तर तप किया जा सकता है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तपः-साधना के काल में बाह्य तप भी हो सकता है। क्योंकि मूलतः तप एक ही प्रकार का है। निमित्त भेद से उसके बारह भेद किए गए हैं।

९. बंध के चार प्रकार हैं –

१. प्रकृति	**३. अनुभाग**
२. स्थिति	**४. प्रदेश**

बंध शब्द का अर्घ है बंधन में लेना। इस शब्द के साथ सम् उपसर्ग जोड़ दिया जाए तो इसका अर्थ हो जाता है सम्बन्धित होना या मिलना। आत्मा के सन्दर्भ में बंध शब्द का प्रयोग आत्मा और कर्मपुद्गलों की सम्बन्ध-योजना का वाचक है। इस संबंध

में आत्मा और कर्म की सत्ता अलग-अलग नहीं रहती। वे इस प्रकार एकीभूत हो जाते हैं, जैसे तिलों में तेल होता है, दूध में घी होता है। आत्मा और कर्मों का यह संबंध प्रवाह रूप से अनादि है। संसारी जीव के सामने ऐसा समय कभी नहीं आता, जब वह कर्मों के बंधन से मुक्त रहता हो।

बंधन के कई प्रकार हैं। पर मुख्य रूप से वह चार प्रकार का ही है। इन चारों प्रकारों में मूल बंध है प्रदेश बंध। बाकी के बंध तो इसके साथ-साथ होते हैं।

कर्म-वर्गणा का आत्म-प्रदेशों के साथ संबंध होना प्रदेश बन्ध है।

आत्मा से सम्बद्ध होने वाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है; वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा; इस प्रकार के वर्गीकरण का नाम प्रकृति बंध है।

कौन कर्म कितने समय तक आत्मा से सम्बद्ध रहेगा; किस अवधि के बाद वह अपना फल देगा; ऐसी व्यवस्था का नाम स्थिति बन्ध है।

किस कर्म का बन्ध तीव्र परिणामों से हुआ है; किस कर्म का बन्ध मन्द परिणामों से हुआ है; कौन कर्म तीव्र-विपाकी होगा और कौन कर्म मन्दविपाकी; ऐसी समायोजना का नाम अनुभाग बन्ध है।

जिस समय प्रदेश-बन्ध होता है, उसके साथ-साथ ही शेष तीनों बन्ध हो जाते हैं। कर्म-बन्धन या उसके फल भोग में किसी भी अदृश्य शक्ति का योग नहीं है। आत्मा के अपने पुरुषार्थ और कर्मों के परिणमन की विचित्रता से सारी प्रक्रिया अपने आप सम्पादित हो जाती है।

१०. मोक्ष के चार हेतु हैं –

१. सम्यक् दर्शन	३. सम्यक् चारित्र
२. सम्यक् ज्ञान	४. सम्यक् तप

जैन धर्म का लक्ष्य है – मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है – संपूर्ण कर्मों का क्षय होने से आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है – बद्ध आत्मा का मुक्त होना ही मोक्ष है। इस दृष्टि से मोक्ष और मुक्त आत्मा दो अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अपने कारण से बंधती है और अपने ही कारण से मुक्त होती है। दूसरा कोई भी उसे बांधने वाला या मुक्त करने वाला नहीं है। अब प्रश्न यह है कि आत्मा स्वयं मुक्त होती है तो मुक्त होने की प्रक्रिया क्या है?

दसवें बोल में मुक्त होने के चार हेतुओं का उल्लेख किया गया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। एक दृष्टि से देखा जाए तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के निजी गुण हैं। उन गुणों की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति होने पर ही मोक्ष संभव है। तप उन गुणों की अभिव्यक्ति का साधन है। किंतु प्रारंभ में ज्ञान, दर्शन आदि भी साधन के रूप में काम आते हैं, जैसे – क्षायक सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है, इसलिए साध्य है और दर्शन का अभ्यास उसका साधन है। इसमें आज्ञारुचि, अभिगमरुचि आदि दस रुचियों तथा शम, संवेग आदि सम्यक्त्व के लक्षणों को आत्मसात् करने का अभ्यास किया जाता है।

केवल ज्ञान साध्य है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि उसके साधन हैं। व्यवहार में ज्ञान का जो अभ्यास किया जाता है, वह साधन के रूप में ही है।

क्षायिक चारित्र का अर्थ है वीतरागता। वह आत्मा का स्वरूप है। सामायिक चारित्र, छेदोपस्थाप्य चारित्र आदि उस स्वरूप को उपलब्ध करने के साधन है। साध्य और साधन का यह भेद प्रारम्भ में रहता है। जैसे-जैसे अन्तर्मुखता बढ़ती है, आत्मा की स्वरूप के निकट पहुंच होने लगती है, धीरे-धीरे सारे भेद समाप्त हो जाते हैं।

तपस्या को मोक्ष का कारण माना गया है। वह अन्त तक साधन के रूप में ही प्रयुक्त होती है। कुल मिलाकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप – ये चारों मोक्ष के कारण है और इनका निरन्तर अभ्यास किया जाता है।

११. दृष्टि के तीन प्रकार हैं –

१. सम्यक् दृष्टि
२. मिथ्या दृष्टि
३. सम्यक्-मिथ्या दृष्टि

मोहनीय कर्म के विलय से जो आत्म-गुण प्रकट होते हैं, उनमें प्रमुख दो हैं – सम्यक्त्व और चारित्र। चारित्र-मोह के विलय से चारित्र की उपलब्धि होती है और दर्शन-मोह के विलय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। विलय तीन प्रकार का होता है – उपशम, क्षय और क्षयोपशम। उपशम और क्षय की परिणति एक समान है। पर तत्त्वत: इनमें बड़ा अन्तर है। उपशम में मोह कर्म की प्रकृतियां दबती हैं, निमित्त पाकर उनमें फिर उभार आ जाता है। क्षय में उन प्रकृतियों का सर्वथा विलय हो जाता है। क्षयोपशम इन दोनों से भिन्न है। इनमें न तो कर्मों का सर्वथा विलय होता है और न ही उपशम

होता है। इसमे कर्मों का हल्कापन होता है अर्थात् विपाक रूप में उनका वेदन नहीं होता। दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है, वह क्रमशः क्षायिक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व को दर्शन या दृष्टि भी कहा जाता है।

जीव-अजीव आदि सभी तत्त्वों का यथार्थ ग्रहण करने वाली दृष्टि सम्यक्-दृष्टि है। यह दृष्टि जिसे प्राप्त होती है, वह व्यक्ति भी सम्यक्-दृष्टि कहलाता है।

सम्यक्–दृष्टि जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाती है, उसे मोक्ष गमन का आरक्षण-पत्र उपलब्ध हो जाता है–देर-सबेर उसकी मुक्ति होनी ही है। शास्त्रों में कहा है कि एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाने पर कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन की समयावधि में मुक्त होना निश्चित है। जब तक वह मुक्त नहीं होता है और सम्यक्-दृष्टि रूप में संसार में रहता है, तब तक प्रशस्त गतियों और कुलों में उत्पन्न होता है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व आत्मविकास की सुदृढ पृष्ठभूमि है। इस पर आरूढ़ होकर ही आत्मा पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुंच सकती है।

जो दृष्टि जीव, अजीव आदि तत्त्वों का अयथार्थ ग्रहण करती है; वह मिथ्यादृष्टि है। यह दृष्टि जिस व्यक्ति की होती है, उपचार से वह व्यक्ति भी मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धा रखने पर भी किसी एक तत्त्व के प्रति संदेह रखने वाली दृष्टि सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि है। उसके योग से वह व्यक्ति भी सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि हो जाता है।

१२. सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं –

१. औपशमिक — **४. सास्वादन**

२. क्षायिक — **५. वेदक**

३. क्षायोपशमिक

जैन-दर्शन में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है–मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। मिथ्यात्व संसार में परिभ्रमण का हेतु है और सम्यक्त्व जीव को संसरण से मुक्ति की ओर ले जाता है। सामान्यतया संसार के प्राणी मिथ्यात्व दशा में जीते हैं। कोई भी प्राणी अपनी चेतना

का ऊर्ध्वारोहण करता है, उसके लिए सम्यक्त्व दशा को उपलब्ध करना जरूरी है। चेतना के विकास और सम्यक्त्व का अविनाभावी संबंध है। जहां चेतना का विकास है, वहां सम्यक्त्व है और जहां सम्यक्त्व है वहां चेतना का विकास है।

कुछ व्यक्ति मिथ्यात्व दशा में ही अपने चैतन्य विकास के लिए अभियान शुरू कर देते हैं। उनमें जो कषाय की अल्पता, वृत्ति का अनाग्रहीपन, मोह का हलकापन, सच्चरित्र के प्रति लगाव आदि होता है, उससे उनका रास्ता एक सीमा तक प्रशस्त हो जाता है। किंतु सम्यक्त्व को उपलब्ध किए बिना मोक्ष का आरक्षण पक्का नहीं होता। सम्यक्त्व का अर्थ है-तत्त्व के बारे में सही श्रद्धा। जो तत्त्व जैसा है, उसे उसी रूप में समझना। इस अर्थ में सम्यक्त्व एक दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण में व्यक्ति या वस्तु का यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही सम्यक्त्व के द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सही बोध होता है। उसके पांच प्रकार हैं – औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सास्वादन, वेदक।

दर्शन मोह की तीन प्रकृतियां – मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह तथा चारित्रमोह की चार प्रकृतियां – अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ – ये सातों प्रकृतियां जिस समय सर्वथा उपशान्त हो जाती है, उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही है। उसके बाद उसमें बदलाव हो जाता है।

मोहकर्म की उपर्युक्त सातों प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद सदा बना रहता है।

उपर्युक्त सात प्रकृतियां जब स्थूल रूप में विपाकावस्था में नहीं रहतीं, अपने फल का स्पष्ट अनुभव नहीं करवातीं, उस समय उपलब्ध होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति पूरी होने पर जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ने लगता है। जिन क्षणों में सम्यक्त्व पूरा नहीं छूटता है – मिथ्यात्व दशा उपलब्ध नहीं होती है, उन क्षणों में होने वाला सम्यक्त्व सास्वादन सम्यक्त्व कहलाता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध करने वाला जीव जिस समय सातों प्रकृतियों का अन्तिम रूप से वेदन करता है, उस समय होने वाला सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

१३. सम्यक्त्व के दो हेतु हैं –

१. निसर्ग (सहज) २. अधिगम (उपदेश आदि से प्राप्त)

१४. सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं –

१. शम ४. अनुकम्पा

२. संवेग ५. आस्तिक्य

३. निर्वेद

तेरहवें बोल में सम्यक्त्व को उपलब्ध करने के दो हेतु बतलाए गए हैं – निसर्ग और अधिगम। निसर्ग अर्थात् स्वभाव। किसी-किसी जीव के बिना किसी प्रयत्न के नैसर्गिक रूप से मिथ्यात्व क्षीण हो जाता है, अनादि काल से आत्मा से संश्लिष्ट कर्म पहाड़ी नदी में घिसकर गोल हुए पत्थरों की तरह अपने आप घिसकर दूर हो जाते हैं। सहज कर्मविलय से उपलब्ध सम्यक्त्व निसर्ग सम्यक्त्व कहलाता है।

गुरु के उपदेश अथवा किसी अन्य बाह्य निमित्त से मिलने वाला सम्यक्त्व अधिगम सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व जीवन का एक विशिष्ट आयाम है। पर प्रश्न यह है कि इसकी प्राप्ति का प्रामाण्य क्या है? कौन व्यक्ति सम्यक्त्वी है? और कौन नहीं है? यह अवबोध कैसे हो सकता है? निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाए तो विशिष्ट ज्ञानी को छोड़कर कोई भी व्यक्ति अपने या दूसरे के सम्यक्त्व का साक्षी नहीं बन सकता। पर व्यवहारनय की अपेक्षा से उसके पांच लक्षण बतलाए गए हैं – शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। चौदहवें बोल में सम्यक्त्व के इन पांचों लक्षणों का उल्लेख है।

शम – क्रोध आदि कषायों का उपशम।

संवेग – मोक्ष की अभिलाषा।

निर्वेद – संसार से विरक्ति।

अनुकम्पा – प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव।

आस्तिक्य – आत्मा, कर्म, कर्मफल आदि में विश्वास।

सम्यक्त्व के इन पाचों लक्षणों को निम्नलिखित पद्य में सरलता से समझा जा सकता है –

शान्त हैं, आवेग सारे, शान्ति मन में व्याप्त है,
मुक्त होने की हृदय में प्रेरणा पर्याप्ति है।
वृत्ति में वैराग्य, अन्तर्भाव में करुणा विमल,
अटल आस्था–ये सभी सम्यक्त्व के लक्षण सबल।।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि सम्यक्त्व के दूषण हैं। दूषण का परिहार करने वाला और लक्षणों को विस्तार देने वाला व्यक्ति अपने सम्यक्त्व को सुरक्षित और उज्ज्वल रखने में समर्थ हो सकता है।

१५. सम्यक्त्व के पांच दूषण हैं –

१. शंका
२. कांक्षा
३. विचिकित्सा
४. परपाषण्डप्रशंसा
५. परपाषाण्डपरिचय

जो तत्त्व जिस रूप में है, उसे उसी रूप में समझने का नाम सम्यक्त्व है। जिन कारणों से सम्यक्त्व दूषित होता है, वे सम्यक्त्व के दूषण माने गए हैं। युगीन सन्दर्भ में इन्हें प्रदूषण की संज्ञा दी जा सकती है। जिस प्रकार हवा, पानी आदि का प्रदूषण मानव-जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, उसी प्रकार आत्मा के विशिष्ट गुण सम्यक्त्व को दूषित या मलिन बनाने के कारण शंका, कांक्षा आदि प्रदूषण हैं।

प्रथम दूषण है शंका। शंका का अर्थ है सन्देह। यह तत्त्वों के प्रति हो सकता है, लक्ष्य के प्रति भी हो सकता है। संदिग्ध अवस्था में की गई प्रवृत्ति वांछित परिणाम नहीं ला सकती। चाहे वह प्रवृत्ति तत्त्व-ज्ञान की हो, मंत्र-जाप की हो या अपने इष्ट को आराधने की हो। संदेहातीत आस्था ही व्यक्ति को इस प्रदूषण से त्राण दे सकती है।

कांक्षा का अर्थ है मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा अथवा लक्ष्य से विपरीत दृष्टिकोण में अनुरक्ति। यह मन की डांवाडोल अवस्था की प्रतीक है। कांक्षा की विद्यमानता में कोई व्यक्ति निर्द्वन्द्व नहीं हो सकता।

तीसरा दूषण है विचिकित्सा। सत्याचरण की फलप्राप्ति या लक्ष्य पूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता का नाम विचिकित्सा है। सीधी भाषा में कहा जाए तो यों कहा

जा सकता है कि व्यक्ति का लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष तक पहुंचने का साधन है धर्म। धर्म के प्रति संदेह करना इस दूषण के अन्तर्गत आता है।

परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डपरिचय का संबंध लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुष या सिद्धान्त की प्रशंसा करने और उसके साथ संपर्क बढ़ाने से है। जो व्यक्ति लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुष या सिद्धान्त की प्रशंसा करता है, वह उस गलत तत्त्व की प्रशंसा करता है, जो उक्त पुरुष को लक्ष्य से विपरीत दिशा में ले जा सकता है। यही बात परिचय की है।

सम्यक्त्व के इन पाचों दूषणों को जान कर इनसे निर्लिप्त रहना ही सम्यक्त्व की विशुद्धि है और यही जीवन की सफलता है।

१६. सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं –

१. स्थैर्य　　४. कौशल

२. प्रभावना　५. तीर्थसेवा

३. भक्ति

शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषण पहने जाते हैं। उसी प्रकार सम्यक्त्व को सजाने-संवारने के लिए सम्यक्त्व के पांच भूषण बतलाए गए हैं। आभूषणों से शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। सम्यक्त्व के भूषणों से आत्मा का सौन्दर्य बढ़ता है। आत्मा यदि सुन्दर नहीं है तो शरीर को कितने ही आभूषण पहना दिए जाएं, आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होगी। आत्मा का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए सम्यक्त्व के भूषणों का उपयोग करना जरूरी है। सम्यक्त्व के लक्षणों और दूषणों की साधारण जानकारी के बाद उनके भूषणों को समझना भी आवश्यक हो जाता है। इसी दृष्टि से इस बोल में भूषणों की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

स्थैर्य

अपने मन को लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों में स्थिर करना।

प्रभावना

धर्म की महिमा का विस्तार हो, वैसा प्रयत्न करना। जिन-प्रवचन की प्रभावना करना।

भक्ति

देव, गुरु और धर्म की भक्ति में निरन्तर लीन रहना।

कौशल

जैन तत्त्व-विद्या की विशद जानकारी प्राप्त कर उसमें निष्णात होना। जिन प्रवचन में मूढ़ नहीं बनना।

तीर्थसेवा

धर्मसंघ की वृद्धि करना और विचलित होती हुई धार्मिक आस्था का स्थिरीकरण करना।

१७. ज्ञान के आठ आचार हैं –

१. काल	५. अनिह्नवन
२. विनय	६. सूत्र
३. बहुमान	७. अर्थ
४. उपधान	८. सूत्रार्थ

ज्ञान का अर्थ है जानना। यह जीव और अजीव का विभाजक तत्त्व है। संसार में छोटे-बड़े जितने जीव हैं, उनमें न्यूनतम ज्ञान की मात्रा अवश्य होती है। जैन सिद्धान्त की भाषा में इसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहा जाता है। यह न हो तो फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर ही नहीं हो सकता।

सब जीवों का ज्ञान समान नहीं होता। कुछ जीवों मे एक साथ तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं। कम-से-कम दो ज्ञान या अज्ञान-मति और श्रुत हर संसारी प्राणी में होते हैं। केवलज्ञानी इसके अपवाद है। केवलज्ञान उपलब्ध हो जाने के बाद शेष चारों ज्ञान अकिंचित्कर हो जाते हैं। किंतु एक दृष्टि से देखा जाए तो उनका केवलज्ञान दूसरों के लिए उपयोगी तभी बनता है, जब वे श्रुत का सहारा लेते हैं।

सूत्र के पाठ को उलट-पलटकर पढ़ना, सूत्र पाठ के साथ दूसरे पाठ जोड़कर पढ़ना, अक्षर छोड़कर पढ़ना, अक्षर बढ़ाकर पढ़ना आदि श्रुतज्ञान के चौदह अतिचार है। इन अतिचारों से बचने वाला और ज्ञान के आचार के प्रति जागरूक रहने वाला

अपनी ज्ञान-सम्पदा की वृद्धि करता है। ज्ञान के आठ आचार बतलाए गए हैं–

काल

श्रुत का अध्ययन करने के लिए निर्दिष्ट काल में श्रुत का अभ्यास करना।

विनय

ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में विनम्र रहना।

बहुमान

ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनुराग रखना।

उपधान

श्रुतवाचन के समय आयम्बिल आदि विशेष तप का अनुष्ठान करना।

अनिह्नवन

ज्ञान और ज्ञानदाता का गोपन न करना।

सूत्र

सूत्र का वाचन करना।

अर्थ

अर्थ का वाचन करना।

सूत्रार्थ

सूत्र और अर्थ–दोनों का वाचन करना।

१८. दर्शन के आठ आचार हैं –

१. निःशंकिता	५. उपबृंहण
२. निष्कांक्षिता	६. स्थिरीकरण
३. निर्विचिकित्सा	७. वात्सल्य
४. अमूढदृष्टि	८. प्रभावना

सत्य की आस्था या सत्य के प्रति होने वाली सुचि की पहचान सम्यक् दर्शन के रूप में होती है। सम्यक् दर्शन को निर्मलतम बनाए रखने के लिए आठ प्रकार के आचार का निरूपण किया गया है।

निःशंकिता

शंका का अर्थ है सन्देह और भय। जिनभाषित तत्त्व के प्रति सन्देह अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदि सात प्रकार के भय से होने वाली व्यथा का नाम शंका है। शंका का अभाव निःशंकिता है। इससे सत्य के प्रति निश्चित आस्था होती है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति असंदिग्ध और अभय होता है।

निष्कांक्षिता

एकान्तवादी दर्शनों की इच्छा का नाम कांक्षा है। इसका दूसरा अर्थ है धर्माचरण द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा। ऐसी इच्छा का उत्पन्न न होना निष्कांक्षिता है। इससे मिथ्या विचार के स्वीकार में अरुचि रहती है।

निर्विचिकित्सा

धर्म के फल में संदेह अथवा घृणा और जुगुप्सा का नाम विचिकित्सा है। यहां घृणा का सम्बन्ध धर्म के प्रति होने वाली ग्लानि से है। निर्विचिकित्सा से धर्म के फल में विश्वास जमता है।

अमूढ़दृष्टि

मूढ़ता तीन प्रकार की होती है—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाषाण्डमूढ़ता। नदीस्नान आदि में धार्मिक विश्वास लोकमूढ़ता का प्रतीक है। रागद्वेष वाले देवों में धार्मिक दृष्टि से इष्ट बुद्धि देवमूढ़ता का प्रतीक है। हिंसा आदि में प्रवृत्त साधुओं में गुरुत्व की बुद्धि पाषाण्डमूढ़ता का प्रतीक है।

एकान्तवादियों की विभूति देखकर मुग्ध होना, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना, उनसे परिचय करना आदि सभी वृत्तियां मूढ़ता के अन्तर्गत है। इन सबसे दूर रहना अमूढ़दृष्टि का लक्षण है।

उपबृंहण

सम्यक् दर्शन की पुष्टि का नाम उपबृंहण है। इसके द्वारा सद्गुणों को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके स्थान पर कहीं-कहीं उपगूहन शब्द का प्रयोग भी होता है। इसका अर्थ है अपने गुणों का अथवा प्रमादवश हुए किसी के दोषों का गोपन करना।

स्थिरीकरण

धर्ममार्ग या न्यायमार्ग से विचलित व्यक्तियों को हेतु, दृष्टान्त आदि से

समझाकर पुन: धर्म और न्याय के मार्ग में स्थिर करना। इसे स्थिरीकरण या स्थितिकरण भी कहा जाता है।

वात्सल्य

साधर्मिकों – एक धर्म में आस्था रखने वालों के प्रति वत्सलभाव या सहानुभूति का भाव रखना। साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना तथा गुरु, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान आदि की विशेष सेवा करना।

प्रभावना

धर्म-तीर्थ की उन्नति के लिए प्रयत्न करना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन-शासन की महिमा बढ़ाना आदि प्रभावना के अंग हैं।

सम्यक्त्व के पांच अतिचारों का वर्जन करने से और आठ आचारों का पालन करने से सम्यक् दर्शन पुष्ट होता है।

१९. चारित्र के आठ आचार हैं –

पांच समिति –

१. ईर्या समिति	४. आदाननिक्षेय समिति
२. भाषा समिति	५. उत्सर्ग समिति
३. एषणा समिति	

तीन गुप्ति –

६. मनोगुप्ति	८. कायगुप्ति
७. वाक्गुप्ति	

चारित्र का अर्थ है संयम। सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने वाला व्यक्ति संयमी या चारित्रवान् होता है। चारित्र का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। चारित्र धर्म की मूलभूत आचार-संहिता है 'महाव्रत'। मुनि शरीरधारी प्राणी होता है। जब तक शरीर है, तब तक प्रवृत्ति होती रहती है। जहां प्रवृत्ति है, क्या वहां हिंसा, असत्य आदि से बचना संभव है? यदि संभव नहीं तो फिर चारित्र की अनुपालना या साधुत्व की कल्पना कहां तक सार्थक है? इस प्रश्न के समाधान में

तीर्थंकरों ने चारित्र के साथ समिति और गुप्ति की अनुपालना का निर्देश दिया है। समिति और गुप्ति से संवलित प्रवृत्ति में हिंसा नहीं होती। इसलिए सहायक सामग्री के रूप में समिति और गुप्ति की आराधना को भी आवश्यक माना गया है। उन्नीसवें बोल में इन्हीं का उल्लेख है।

समिति का अर्थ है संयत प्रवृत्ति, संयममय प्रवृत्ति। वे पांच हैं–

* ईर्या समिति–संयम पूर्वक चलना।
* भाषा समिति–संयम से बोलना।
* एषणा समिति–संयमी शरीर के निर्वाह हेतु भोजन, पानी आदि की संयमपूर्वक एषणा।
* आदाननिक्षेप समिति–धर्मोपकरणों का संयमपूर्वक उपयोग करना।
* उत्सर्ग समिति–मल-मूत्र आदि का विधिवत् विसर्जन करना।

इन पांचों समितियों से महाव्रतों की अनुपालना सहज हो जाती है। इसलिए महाव्रत के साथ समिति का योग किया गया है। जहां समिति है, वहां गुप्ति का होना जरूरी है। गुप्ति के साथ समिति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। किंतु गुप्ति के बिना समिति नहीं होती।

गुप्ति का अर्थ है मन, वचन और शरीर का संवरण करना। गुप्तियां तीन हैं।

मनोगुप्ति

मन का सर्वथा निग्रह अथवा मन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह मनोगुप्ति है। मन का पूरा निग्रह अयोग संवर की स्थिति में होता है। आंशिक निग्रह अयोग संवर का अंश है। असंयत प्रवृत्ति का निग्रह व्रत संवर में परिगणित होता है। कितु संयत प्रवृत्ति का निग्रह अयोग संवर का अंश बन जाता है।

वाक्‌गुप्ति

वचन का सर्वथा निग्रह अथवा वाणी का निग्रह।

कायगुप्ति

शरीर की स्थूल और सूक्ष्म सब प्रवृत्तियों और परिस्पन्दनों का निग्रह अथवा शरीर की सपाप प्रवृत्ति का निग्रह। चारित्र धर्म या पांच महाव्रत के साथ पांच समिति और तीन गुप्ति का योग करने से यह संख्या तेरह हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ

की परिभाषा देते हुए इसका प्रयोग किया है। उन्होंने कहा – 'हे प्रभो! यह तेरा पंथ' यह व्याख्या हमें इष्ट है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त तेरह नियम भी तेरापंथ की एक व्याख्या है। इन तेरह नियमों का पालन करने वाला तेरापंथी साधु कहलाता है। जहां महाव्रतों का पालन जरूरी है, वहां अनुशासन का पालन स्वत: प्राप्त है। जिस व्यक्ति पर अपना अनुशासन नहीं होता, संघ का अनुशासन नहीं होता, वह महाव्रत और समितिगुप्ति का भी पालन नहीं कर सकता।

२०. स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं –

१. वाचना ४. अनुप्रेक्षा
२. प्रच्छना ५. धर्मकथा
३. परिवर्तना

स्वाध्याय का अर्थ है श्रुत – अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं। पांच प्रकारों में पहला प्रकार है वाचना। वाचना का संबंध अध्ययन और अध्यापन के साथ है। अध्ययन – अध्यापन का माध्यम ग्रन्थ भी हो सकते हैं और आत्मज्ञान भी। मूल बात इतनी ही है कि वही अध्ययन स्वाध्याय का अंग बनता है, जो व्यक्ति को आत्मविश्लेषण करा सके और आत्मा की पहचान दे सके।

प्रच्छना का अर्थ है पूछना। इसकी पृष्ठभूमि में जिज्ञासा का होना जरूरी है। जिज्ञासु भाव से उपजे हुए प्रश्न ही व्यक्ति को सत्य तक ले जा सकते हैं। जिज्ञासु को सत्य की राह पकड़ा सके, वे प्रश्न ही स्वाध्याय के परिवार में सम्मिलित होने की अर्हता रखते हैं।

परिवर्तना का अर्थ है दोहराना, एक ही पथ से बार-बार गुजरना। ज्ञान चेतना के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस उपक्रम का उपयोग नहीं करने वाले अपने कृत पुरुषार्थ को भी विफल कर लेते हैं।

अनुप्रेक्षा का संबंध ध्यान और स्वाध्याय दोनों के साथ है। यह चिन्तन की भूमिका है। जैन-परम्परा में इसके लिए भावना शब्द का प्रयोग भी होता है। अनित्य, अशरण आदि भावनाओं से भावित चित्त में जिस शान्ति और समाधि का अवतरण होता है, वह स्वाध्याय की महत्ता का प्रतीक है।

धर्मकथा सब प्रकार की धर्म चर्चा और धर्मोपदेश की सूचना देने वाला शब्द है। धर्मोपदेशक प्रवचन में केवल इधर-उधर की बातें कहकर अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर सकता। गम्भीर स्वाध्याय और मनन के बाद ही वह अपने श्रोताओं का पथदर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से स्वाध्याय के पाचों प्रकार साधना में सहायक सिद्ध होते हैं।

२१. ध्यान के चार प्रकार हैं –

१. आर्त्त	३. धर्म
२. रौद्र	४. शुक्ल

किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करने अथवा मन, वाणी और शरीर के निरोध को ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकारों में प्रथभ दो ध्यान अशुभ हैं और शेष दो शुभ हैं। निर्जरा तत्त्व में जिस ध्यान का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध शुभ ध्यान से है। चूंकि अशुभ ध्यान में भी मन का एकाग्र सन्निवेश होता है, किंतु चेतना के विकास में उसका कोई योग नहीं होता, इस दृष्टि से निर्जरा के भेदों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का ग्रहण नहीं हो सकता। यहां सामान्य रूप से ध्यान की व्याख्या में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के ध्यान का समावेश कर दिया है।

आर्त्तध्यान

प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग और अप्रिय व्यक्ति या वस्तु के संयोग से होने वाली चैतसिक विकलता की स्थिति में जो चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान कहलाता है। वेदनाजनित आतुरता और विषय-सुख की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला दृढ़संकल्प भी इसी ध्यान का अंग है। व्याकुलता, छटपटाहट और अधीरता आर्त्तध्यान की निष्पत्तियां है।

रौद्रध्यान

भौतिक विषयों की सुरक्षा के लिए तथा हिंसा, असत्य, चोरी, क्रूरता आदि दुष्प्रवृत्तियों से अनुबन्धित चिन्तन का नाम रौद्रध्यान है। इस ध्यान से प्रभावित व्यक्ति एवं ध्वंसात्मक भावों का अर्जन करता है और उनकी प्रेरणा से अवांछित कार्यों में प्रवृत्त होता है।

धर्मध्यान

जिस वस्तु का जो धर्म होता है, उसे यथार्थ रूप में जानने अथवा सत्य की खोज के लिए होने वाले चिन्तन का नाम धर्मध्यान है। इस ध्यान की साधना करने वाला साधक आगमों में प्रतिपादित तत्त्वों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है। राग-द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति और क्षय के हेतुओं को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है। द्रव्य की विविध आकृतियों और पर्यायों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है तथा कर्म के फल को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र होता है।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान का अर्थ है परिपूर्ण समाधि। यह चिन्तन की निर्मलता का प्रकृष्ट रूप है। इससे अन्तर्मुखता की अग्रिम भूमिकाएं प्रशस्त हो जाती हैं। इस स्थिति में भौतिक आकांक्षाएं छूटती हैं और आत्मिक अनुभूति के द्वार खुलते हैं। शुक्लध्यान की चार अवस्थाएं हैं। चौथी अवस्था में पहुंचने के बाद जीव सांसारिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

२२. धर्म की पहचान के पांच प्रकार हैं –

१. त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है।

२. आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है।

३. संयम धर्म है, असंयम धर्म नहीं है।

४. उपदेश धर्म है, बलप्रयोग धर्म नहीं है।

५. अनमोल धर्म है, मूल्य से प्राप्त होने वाला धर्म नहीं है।

धर्म मनुष्य की आस्था का विशिष्ट केन्द्र है। इसके आधार पर जीवन चलता है और कठिन समय में आलम्बन मिलता है। धर्म क्या है? इस प्रश्न को कई दृष्टियों से देखा गया है और हर दृष्टि की पृष्ठभूमि में रही हुई विवक्षा के आधार पर उसकी पहचान कराई गई है। आचार, व्यवस्था, परम्परा, रीतिरिवाज आदि अनेक अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग और उसकी व्याख्या की गई है। इस बोल में केवल शुद्ध आध्यात्मिक धर्म को सामने रखकर चिन्तन किया गया है। आध्यात्मिक धर्म, जो कि एकमात्र आत्मशुद्धि का साधन है, लोक धर्म से भिन्न है। आचार्य भिक्षु ने उसको जो सीधी-सपाट किन्तु सार्थक परिभाषाएं दी हैं, वे जितनी यथार्थ हैं, उतनी ही सरल

हैं। धर्म को दार्शनिक गुत्थियों में उलझाने के स्थान पर इतनी सीधी अभिव्यक्ति देना आचार्य भिक्षु की सूक्ष्मग्राही मेधा का प्रतीक है।

प्रस्तुत बोल में लोकोत्तर धर्म की पहचान के पांच लक्षण बतलाए गए हैं—

त्याग धर्म है

सपाप आचरणों का त्याग धर्म है। भोग के साथ धर्म का कोई अनुबन्ध नहीं है। त्याग अर्हत् की आज्ञा में है, इसलिए वही धर्म है।

आज्ञा धर्म है

जिस आचरण की अर्हत्, तीर्थंकर, वीतराग आज्ञा देते हैं, वह आचरण धर्म है। जिस आचरण के लिए भगवान की आज्ञा नहीं है, वह धर्म नहीं है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि जिस काम को करने में अर्हत् की आज्ञा का उल्लंघन होता है, वह धर्म नहीं है।

संयम धर्म है

इन्द्रियों, मन और वृत्तियों का जितना-जितना संयम साधा जाता है अथवा जितना व्रत होता है, वह धर्म है। असंयम या अव्रत धर्म नहीं है क्योंकि असंयम (अव्रत) के लिए भगवान की आज्ञा नहीं है।

उपदेश धर्म है

धर्म का संबंध हृदय-परिवर्तन से है। जहां बलप्रयोग है, वहां धर्म नहीं हो सकता। उपदेश के द्वारा अथवा साधना के प्रयोगों द्वारा ग्रंथियों के स्राव बदलने से अन्त:करण में होने वाला परिवर्तन धर्म की सही पहचान बन सकता।

जो अमूल्य है, वह धर्म है

धर्म अमूल्य तत्त्व है। उसे कभी अर्थ या किसी अन्य साधन से खरीदा नहीं जा सकता। जो खरीदा जाता है, वह धर्म नहीं हो सकता।

निष्कर्ष की भाषा में इतना ही जानना जरूरी है कि भोग, अनाज्ञा, असंयम, बलप्रयोग और मूल्य से प्राप्त होने वाला तत्त्व धर्म नहीं है।

धर्म वही है, जिसमे अर्हत् की आज्ञा होती है। धर्म की यह व्याख्या मौलिक है और अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर करने वाली है।

२३. धर्म के दो प्रकार हैं –

१. लौकिक धर्म   २. लोकोत्तर धर्म

लौकिक धर्म के अनेक प्रकार हैं –

परम्परा, रीतिरिवाज आदि।

लोकोत्तर धर्म के दो प्रकार हैं –

१. श्रुत धर्म   २. चारित्र धर्म

अथवा

१. संवर धर्म   २. निर्जरा धर्म

धर्म शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। जिस प्रसंग में जो अर्थ विवक्षित होता है, उसे प्रमुख मानकर अन्य अर्थों को गौण कर दिया जाता है। तेईसवें बोल में धर्म के दो रूप-लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को आधार मानकर चर्चा की गई है। लौकिक धर्म के अनेक प्रकार हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म के स्वरूप और प्रकार में परिवर्तन होता रहता है। किसी भी राष्ट्र या समाज की जितनी परम्पराएं, जितने रीतिरिवाज, जितने व्यवहार हैं, वे सब लौकिक धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

लोकोत्तर धर्म का अर्थ है–संसार की रूढ़ धारणाओं, परम्पराओं और अन्धविश्वासों से मुक्त एक ऐसी प्रक्रिया, जिससे व्यक्ति सत्य के निकट पहुंचता है, अपनी आत्मा की पहचान करता है और बंधन-मुक्ति की दिशा में प्रस्थित होता है। प्रस्तुत बोल में लोकोत्तर धर्म के दो-दो प्रकार बतलाए गए हैं।

धर्म है आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ। शुद्ध उद्देश्य और शुद्ध साधन का जो फलित होता है, वही धर्म हो सकता है। उद्देश्य सही है, पर साधन शुद्ध नहीं है तो उस प्रवृत्ति के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है। इस दृष्टि से यहां श्रुत शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों का ग्रहण होता है क्योंकि श्रद्धा के बिना ज्ञान का विकास भी संभव नहीं है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक को विशिष्ट ज्ञानी माना जाता है।

एक वैज्ञानिक जितना श्रद्धालु होता है, कुछ धार्मिक व्यक्ति भी शायद उतने श्रद्धाशील नहीं होते। श्रद्धा के अभाव में किसी एक प्रवृत्ति में जीवन खपाने का

मनोभाव बन ही नहीं सकता। इस दृष्टि से श्रद्धा को धर्म का प्रथम द्वार माना जा सकता है।

श्रद्धा और ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी जब तक चारित्र धर्म का विकास नहीं होता, धर्म का रूप सामने नहीं आता। चारित्र का संबंध आचरण से है। जीवन शुद्धिमूलक जितना आचरण है, वह सब धर्म है। इसमें व्रत, नियम, त्याग, तप, अनुष्ठान आदि बाह्य क्रियाओं के साथ समता, सहिष्णुता आदि आन्तरिक गुणों का समावेश हो जाता है।

संवर और निर्जरा जैन साधना पद्धति के मूल आधार है। संवर का अर्थ है निरोध और निर्जरा का अर्थ है क्षरण। आत्मा और कर्म-पुद्गलों का संबंध अनादिकालीन है। क्षण-क्षण में कर्मों का बंधन, वेदन और क्षरण होता रहता है। जब तक आगन्तुक कर्मों को रोका नहीं जाएगा, तब तक जीव कर्म मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकेगा। आगन्तुक कर्मों को रोकने का नाम ही संवर है। नए कर्मों का मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर भी जब तक पूर्व संचित कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक जीव का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। इसलिए निर्जरा धर्म का भी बहुत महत्त्व है। ध्यान, स्वाध्याय, तपस्या, पदयात्रा, केशलुंचन आदि सभी प्रवृत्तियों का समावेश निर्जरा धर्म में हो जाता है। फिर भी वह गौण तत्त्व है। प्रमुख तत्त्व है संवर। संवर-संवलित निर्जरा ही व्यक्ति को सिद्ध, बुद्ध या मुक्त बना सकती है।

निर्जरा धर्म संसार के सब जीवों के हो सकता है। क्योंकि यह एक व्यापक तत्त्व है। अभव्य और मिथ्यात्वी व्यक्ति भी निर्जरा धर्म की साधना कर सकते हैं। किन्तु संवर धर्म की साधना सबके वश की बात नहीं है। आत्म-विकास की चौदह भूमिकाओं में पांचवीं भूमिका में संवर धर्म का स्पर्श होता है। उसके बाद वह उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ व्यक्ति को पूर्णता तक पहुंचा देता है।

२४. धर्म के दो प्रकार हैं –

१. अनगार धर्म   २. अगार धर्म

अनगार धर्म (मुनि धर्म) के पांच प्रकार हैं –

१. अहिंसा महाव्रत   ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत

२. सत्य महाव्रत   ५. अपरिग्रह महाव्रत

३. अचौर्य महाव्रत

अगार धर्म (श्रावक धर्म) के बारह प्रकार हैं –

(पांच अणुव्रत)

१. अहिंसा अणुव्रत
२. सत्य अणुव्रत
३. अचौर्य अणुव्रत
४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत
५. अपरिग्रह अणुव्रत

(सात शिक्षाव्रत)

१. दिग्पारिमाण व्रत
२. भोगोपभोगपरिमाण व्रत
३. अनर्थदण्डविरमण व्रत
४. सामायिक व्रत
५. देशावकाशिक व्रत
६. पौषधोपवास व्रत
७. यथासंविभाग व्रत

तेईसवें बोल में लौकिक और लोकोत्तर धर्म की चर्चा की गई। वहां लोकोत्तर धर्म में श्रुत, चारित्र तथा संवर, निर्जरा का उल्लेख है। प्रस्तुत बोल में क्षमता के आधार पर धर्म को दो वर्गों में बांटा गया है। अनगार धर्म का पालन गृहत्यागी मुनि ही कर सकते है। अगार का अर्थ है घर। जो अगार यानी घर छोड़कर अनगार बन जाते हैं, उनके लिए पांच महाव्रत रूप धर्म का विधान है।

महाव्रत

भारतीय जीवन पद्धति में 'व्रत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस व्यक्ति के जीवन में व्रत होता है, वह धार्मिक कहलाता है। व्रत के अभाव में धार्मिकता के आगे एक प्रश्नचिह्न उपस्थित हो जाता है। जैन धर्म भारतीय धर्म और दर्शन के संदर्भ में एक प्रतिनिधि धर्म है। इसमें व्रत का सर्वाधिक मूल्य है। आचरण की क्षमता के आधार पर व्रत को दो भागों मे विभक्त किया गया है – महाव्रत और अणुव्रत। जिस व्रत का पालन मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति-वर्जन के साथ होता है, वह महाव्रत कहलाता है। जिस व्रत की अनुपालना में उपर्युक्त त्रिकरण, त्रियोग का अनुबन्ध न हो, जिस व्रत की कुछ सीमाएं हो, वह अणुव्रत कहलाता है। महाव्रत का पालन करने वाला साधु कहलाता है। महाव्रत संख्या में पांच हैं।

पांच महाव्रतों में पहला महाव्रत है 'अहिंसा'। इसका दूसरा नाम है – प्राणातिपात-विरमण। सव प्रकार की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। इस परिभाषा में हिंसा

का संबंध प्राण-वियोजन से रखा गया है। थोड़ी गहराई से चिन्तन किया जाए तो हिंसा का संबंध है व्यक्ति के असंयम से।

सयंत प्रवृत्ति से यदि किसी जीव का वध भी हो जाए तो उसे वास्तव में हिंसा नहीं माना जाता। प्रवृत्ति संयत नहीं है तो प्राणी का वध न होने पर भी हिंसा है। इस दृष्टि से अहिंसा की परिभाषा है—'**सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा**'—'प्राणी मात्र के प्रति व्यक्ति का अपना संयम है, वह अहिंसा है।'

सत्य एक मानवीय गुण है। इससे विमुख होने अर्थात् असत्य-संभाषण के चार कारण है—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। इन चारों कारणों से बचने वाला असत्य-भाषण से अपने आप बच जाता है। यह सत्य का नकारात्मक पक्ष है। विधेयक दृष्टि से विचार किया जाए तो सत्य के चार रूप है—शरीर की सरलता, मन की सरलता, वचन की सरलता और कथनी-करनी की अविसंवादिता (समानता)। सत्य महाव्रत का आचरण इसी भूमिका पर हो सकता है।

चोरी एक सामाजिक और राष्ट्रीय अपराध है। इस अपराध से बचने वाला किसी प्रकार की अदत्त वस्तु, फिर चाहे वह एक तिनका ही क्यों न हो, का ग्रहण नहीं करता। सकारात्मक भाषा में कहा जाए तो पूर्ण प्रामाणिकता का नाम अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य जीवन का विशेष गुण है। गृहस्थ जीवन में इसकी कुछ सीमाएं है। विवाह संस्कार इन सीमाओं की ही एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अनुसार विवाहित स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त सभी स्त्री-पुरुषों के साथ संभोग का वर्जन करना जरूरी है। यह अणुव्रत है। ब्रह्मचर्य महाव्रत में विवाह का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए वहां सम्पूर्ण रूप से संभोग का वर्जन विहित है। गहराई से विचार किया जाए तो पाचों इन्द्रियों और मन को विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त रखना ब्रह्मचर्य है। श्रुति-संयम, स्मृति-संयम, खाद्य-संयम, कल्पना-संयम आदि विषयासक्ति वर्जन के ही फलित है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि श्रुति, स्मृति आदि का संयम करने से विषयासक्ति स्वयं छूट जाती है।

परिग्रह के दो रूप है—वस्तुसंग्रह और मूर्च्छा। संग्रह और मूर्च्छा का अभाव अपरिग्रह महाव्रत है। मुनि के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तु मात्र का संग्रह सर्वथा वर्जित है। मूर्च्छा का जहां तक प्रश्न है, वह न धर्मोपकरण के प्रति होनी चाहिए और न किसी अन्य वस्तु पर। शास्त्र में तो यहां तक कहा गया है—'**अवि अप्पणो वि**

देहम्मि नायरंति ममाइयं' –मुनि अपने शरीर पर भी ममत्व न करे। अपरिग्रह महाव्रत की पूर्णता इसी में है। ये पाचों महाव्रत मुनि के लिए अनिवार्य रूप से समाचरणीय है।

जो व्यक्ति मुनि नहीं बन सकते, महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए अगार धर्म अर्थात् श्रावक धर्म का रास्ता खुला है। श्रावक धर्म के बारह प्रकार हैं। उनको दो या तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम वर्गीकरण में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। वर्गीकरण का कोई भी क्रम हो; मूल बात इतनी ही है कि अगार धर्म के बारह प्रकार है।

अणुव्रत

जैन दर्शन के अनुसार मुनि की तरह गृहस्थ भी धर्म की आराधना कर सकता है। उसकी आराधना आंशिक होती है और मुनि की पूर्ण। इसलिए मुनि के द्वारा स्वीकृत संकल्प महाव्रत कहलाते हैं और गृहस्थ के द्वारा स्वीकृत संकल्प अणुव्रत। महाव्रत की भांति अणुव्रत भी पांच है।

अहिंसा अणुव्रत

चलते-फिरते निरपराध प्राणियों को जानबूझकर मारने का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है।

सत्य अणुव्रत

किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो जाए, वैसे असत्य का त्याग करना सत्य अणुव्रत है।

अस्तेय अणुव्रत

डाका डालकर, ताला तोड़कर बड़ी चोरी करने का त्याग करना अस्तेय अणुव्रत है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन (पर-पुरुषगमन) का त्याग करना एवं अपनी स्त्री (पुरुष) के साथ संभोग की सीमा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

अपरिग्रह अणव्रत

सोना, चांदी, मकान, धन, धान्य आदि परिग्रह के संचय की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है।

शिक्षाव्रत

उपर्युक्त पांच व्रतों की पुष्टि के लिए सात शिक्षाव्रत का पालन किया जाता है। इन सात शिक्षाव्रतों में प्रथम तीन व्रत – दिग्परिमाण, भोगोपभोगपरिमाण और अनर्थदंडविरमण – ये स्वीकृत व्रतों में गुण का आधान करने के कारण गुणव्रत कहलाते है।

दिग्परिमाण यातायात से संबंधित व्रत है। श्रावक धर्म का पालन करने वाला छहों दिशाओं में निरंकुश यातायात नहीं करता। जहां यातायात ही नहीं होता, वहां से संबंधित हिंसा, असत्य आदि सपाप प्रवृत्तियों से भी सहजता से बचा जा सकता है। दिशाओं में गमनागमन की सीमा न हो तो वहां होने वाले असंयम का भी निरोध नहीं होता। इसके साथ-साथ दिग्व्रत स्वीकार करने वाला श्रावक यातायात सम्बन्धी अव्यवस्थाओं और दुर्घटनाओं से भी बच सकता है।

दूसरा गुणव्रत है – भोगोपभोग-परिमाण। मनुष्य की आकांक्षा असीम होती है और आवश्यकता सीमित। इस गुणव्रत का पालन करने वाला श्रावक आकांक्षाओं के चक्रव्यूह से निकल कर अपनी आवश्यकताओं को और अधिक सीमित करने का लक्ष्य रखता है। किसी राष्ट्र के सब नागरिक इस व्रत को स्वीकार कर लें तो अभाव और अतिभावजनित दुर्व्यवस्थाओं का अन्त हो सकता है। इस व्रत की भावना से समाजवाद सहजरूप से फलित हो जाता है। इसमें वस्तु-संयम और व्यवसाय-संयम दोनों का समावेश होता है।

तीसरा गुणव्रत है – अनर्थदण्डविरमण। इसके दो वाच्यार्थ है – निष्प्रयोजन हिंसा से दूर होना और अनर्थकारी पाप से दूर होना। एक श्रावक पर यह दायित्व आता है कि वह बिना प्रयोजन कोई गलत काम करे ही नहीं। प्रयोजनवश कोई सपाप आचरण करना पड़े तो उसमें भी उस प्रवत्ति से अपना बचाव करे, जो किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए अनिष्ट अथवा अहित का सम्पादन करने वाली हो।

अन्तिम चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप में प्रसिद्ध हैं। अणुव्रतों की साधना जीवन-भर के लिए स्वीकृत की जा सकती है। किन्तु शिक्षाव्रत प्रायोगिक व्रत है। इनका अभ्यास बार-बार किया जाता है। इस दृष्टि से ये सावधिक होते है। शिक्षाव्रत चार है – सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और यथासंविभाग।

एक मुहूर्त (४८ मिनट) के लिए समता के अभ्यास का प्रयोग सामायिक व्रत है । इसका अभ्यास प्रतिदिन एक बार या अधिक बार भी किया जा साकता है।

व्रत की सीमाओं को अधिक संक्षिप्त करने के लिए छोटे-बड़े सब प्रकार के प्रत्याख्यान करने का अवकाश जहां हो, उस व्रत को देशावकाशिक व्रत कहा गया है। परिपूर्ण पौषध व्रत से पहले सारे प्रत्याख्यान इस व्रत के अन्तर्गत आते हैं।

एक दिन और रात के लिए सावद्य कामों का प्रत्याख्यान करना, उपवासपूर्वक विशेष धर्म जागरण करना प्रतिपूर्ण पौषध व्रत है।

अपनी खान-पान आदि वस्तुओं में से संयमी पुरुषों के लिए विभाग करके देना यथासंविभाग व्रत का तात्पर्यार्थ है। इस व्रत का दूसरा नाम अतिथिसंविभाग भी है। जिस साधक के तिथि विशेष में सावद्य योग का त्याग न हो–जीवनपर्यन्त त्याग हो, वह अतिथि कहलाता है। यह शब्द साधु का वाचक है। श्रावक कहीं भी रहकर इस व्रत का अभ्यास कर सकता है। यद्यपि इस व्रत की अनुपालना साधु-साध्वियों की सन्निधि में ही हो सकती है। पर भावना का प्रयोग कभी भी और कहीं भी हो सकता है।

२५. श्रमण धर्म के दस प्रकार हैं –

१. क्षान्ति	६. सत्य
२. मुक्ति	७. संयम
३. आर्जव	८. तप
४. मार्दव	९. त्याग
५. लाघव	१०. ब्रह्मचर्य

पच्चीसवें बोल में दस प्रकार के श्रमण धर्मों का उल्लेख है–धर्म के ये प्रकार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं, ऐसी कोई नियामकता नहीं है। एक गृहस्थ भी इन धर्मों की सघन साधना करने का अधिकारी है। फिर भी श्रमण धर्म के रूप में इनका उल्लेख इस बात का प्रतीक है कि साधु बनने वाले को तो इन धर्मों का विकास करना ही है।

क्षान्ति

सहिष्णुता–किसी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर उसे सहज भाव से सहन करने, उत्तेजित होने का अवसर आने पर भी शांत रहने और सामने वाले व्यक्ति की दुर्बलताओं को स्नेह की धारा में विलीन करने की क्षमता।

मुक्ति

निर्लोभता – शरीर और पदार्थ जगत के प्रति अनासक्ति।

आर्जव

सरलता – माया, छलना आदि से उपरति। मन के उस प्रकाश की साधना जहां छिपाव और दुराव स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

मार्दव

कोमलता – मन, वाणी आदि के कठोर व्यवहार का विसर्जन और करुणा के अजस्र स्रोत का बहाव।

लाघव

हलकापन – कषाय, उपधि आदि के भार का विसर्जन। स्नायविक मानसिक और बौद्धिक तनाव से मुक्ति।

सत्य

जो तत्त्व जैसा है, उसको उसी रूप में समझना और उसका उसी रूप में कथन करना। आग्रह सत्य में सबसे बड़ी बाधा है। आग्रह अज्ञानजनित हो सकता है, मोहजनित हो सकता है और संस्कारजनित भी हो सकता है।

संयम

इन्द्रिय और मन का संयम। संयम की साधना से मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार की समस्याओं का समाधान होता है।

तप

कर्म शरीर को तपाने वाला अनुष्ठान। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के भेद से तप कई प्रकार का हो जाता है।

त्याग

संकल्प-शक्ति का विकास, अनुराग के केन्द्र का बदलाव। विषय और उससे होने वाली वासना, आसक्ति को छोड़ने का संकल्प।

ब्रह्मचर्य

इन्द्रिय-संयम, वासना-संयम अथवा आत्म-रमण।

इन दस धर्मों की साधना करने वाला श्रमण ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्म-विकास की सब भूमिकाओं को पार कर मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट

दूसरा वर्ग

१. १. अरूपी अजीव के चार प्रकारों के नाम बताओ।
   २. अजीव किसे कहते है?
   ३. रूपी अरूपी शब्द की अपने शब्दों में व्याख्या करो।
   ४. गतिसहायो धर्मः – इस वाक्य का अर्थ करो।

२. १. पुद्गल के पांच संस्थानों में किसी तीन का नामोल्लेख करो।
   २. संस्थान शब्द का क्या अर्थ है?
   ३. आयत संस्थान किसे कहते हैं?

३. १. आठ वर्गणाओं में किसी चार के नाम बताओ।
   २. 'वर्गणा' शब्द का अर्थ क्या है?
   ३. मनोवर्गणा का क्या अर्थ है?

४. १. पुद्गल के चार लक्षण कौन से हैं?
   २. क्या शब्द पुद्गल का लक्षण नहीं हैं?
   ३. अनन्त प्रदेशी पुद्गल में कितने स्पर्श व रस पाए जाते हैं?

५. १. चक्षुइन्द्रिय, रसनइन्द्रिय के कितने विषय हैं? उनके नाम बताओ।
   २. अजीव शब्द को उदाहरण सहित समझाओ।
   ३. जीव शब्द की उत्पत्ति के स्थान कौन-कौन-से हैं?

६ १. कर्म के आठ प्रकारों के नाम बताओ।
   २. आठ कर्मों में घनघात्य कर्म कौन-कौन-से हैं?
   ३. चेतना को मूर्च्छित करने वाला कौन-सा कर्म है?

७. १. ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां कौन-सी हैं? उनके नाम बताओ।
   २. वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां कौन-सी है? उनके नाम बताओ।
   ३. निद्रा कौन से कर्म की प्रकृति है?